

गोपालचन्द्र चक्रवर्ती द्वारा
भारतधर्म प्रेस, काशीमें मुद्रित।



भक्ति-पुष्पाञ्जलि ।

सनातनधर्मके इस घोर दुर्दिनमें, कराल कलिके दुर्द्-मनीय प्रवाहके विरुद्ध होनेपरभी अपने सब सुख-स्वार्थोंको तिलाञ्जलि देकर चिरन्तन वर्णाश्रमधर्मको अस्तित्वरक्षाके लिये दृढ़व्रत हो जो अतिधीर, गम्भीर और निश्चलभावसे तत्पर हैं, आर्य्यजातिकी गौरव-रक्षा और सनातनधर्मकी रक्षाके लिये इस अवस्थामें भी चिरयुवककी तरह जिनका अनवरत, अक्लान्त परिश्रम है, चिरप्रसिद्ध धर्म और जातीय नौकाको जलमग्न होते देख, उसके उद्धारके लिये, जिन्होंने यौवनकालमें ही अपने प्रचुर ऐश्वर्य्यों, वैभवो, विभूतियो एवं सब सुखोंपर लात मारकर कठिन यति-व्रतको ग्रहण किया है, जिनकी उग्र तपस्या, कठोर संयम और अखण्ड ब्रह्मचर्य्यके प्रभावसे काल भी नतमस्तक है, जिनकी अतुलनीय, असाधारण, अद्भुत एवं असीम आध्यात्मिक ज्ञानशक्तिके विलासरूप अनेक लुप्तदर्शन संहितादि ग्रन्थ-रत्नसमूह प्रकाशित हो, मोहमूर्च्छित, अज्ञान-जालविज-

ड़ित, त्रिताप-जर्जरित, अगाध भवसागरनिमग्न जीवोंके लिये एक मात्र आश्रय और स्तम्भस्वरूप हैं, जिनकी उपस्थित प्रज्ञा और ऋषि-दुर्लभ प्रतिभाको देख बुद्धिमान तो मोहित होता ही है, शत्रु भी सिर झुकानेको बाध्य होता है, जिनकी द्वन्द्व-सहिष्णुता और उदारता अनुपमेय है, जो पुरुषोत्तम शिवके समान आशुतोष, विष्णुके समान बुद्धि एवं ज्ञानसम्पन्न और ब्रह्माके समान क्रिया-शक्ति विशिष्ट हैं, जिनके श्रीमुखसे निःसृत सुधा-धारा जिज्ञासुके अज्ञानतिमिरनाशके लिये प्राणमय दिवाकरकिरणरूप है, जिनके कमनीय-कान्तिमय सदा सुप्रसन्न मनोहर-मुखमण्डलके ब्रह्मतेज-की पवित्र आभासे पाप-ताप लज्जित होकर विदूरित होता है, जिनके अगाध कृपासिन्धुके बिन्दुमात्रसे अकिञ्चन भी धन्य होता है, यह उपनिषत्सुबोधिनी टीका जिनके ही मानस-सरोवरका सरोज है, उन्हीं परमाराध्य देव श्रीगुरु-देव श्री १०८ श्रीदेशिकेन्द्र योगीन्द्र श्रीमत्परमहंस परि-व्राजकाचार्य्य पूज्यपाद श्रीस्वामी ज्ञानानन्दजी महाराज-गुरुवर्य्यप्रभुके श्रीपादपद्मोंमें गंगाजलसे गंगापूजाके समान भक्ति-पुष्पाञ्जलिरूपसे यह ग्रन्थ समर्पित हो।

—श्रीपादपद्माश्रित।

अवतरणिका।

—०%०—

ईशावास्योपनिषत्की तरह केनोपनिष
मन्त्रार्थ, शांकरभाष्य, शांकरभाष्यके हिन्दी अनुवाद और उपनिषत्सुबोधिनी नामक वैज्ञानिक टीका सहित हिन्दी साहित्यकी पुष्टि एवं स्वदेशहितैषी, स्वधर्मानुरागी, राष्ट्रीयभाषा हिन्दीके प्रेमियो और मुमुक्षु पाठकोंके निमित्त प्रकाशित हुई। ईशोपनिषत्की अपेक्षा केनोपनिषत्की विशेषता यह है कि, इसमें श्रुतिने प्रश्नोत्तरप्रणालीका अवलम्बन करके ब्रह्म जैसे दुरवगाह्य विषयको साधारण मनुष्य-बुद्धिगम्य बनानेका प्रयत्न किया है। भगवान् मनुने कहा है कि,—"नापृष्टः कस्यचित् ब्रूयात्" अर्थात् बिना पूछे कुछ न कहे। इसका तात्पर्य यह है कि, जिस विषयमें किसीकी जिज्ञासा होती है उसके जाननेके लिये वह विशेष उत्सुक भी रहता है, उस समय प्रत्युत्तर मिलनेपर वह उसको ठीक ठीक समझ सकता है, एवं जाननेके लिये कौतूहल रहनेके कारण, वह बात जिज्ञासुके अन्तःकरणमें बद्धमूल भी हो जाती है। अर्थात् प्रश्नोत्तररूपसे विषयके समझने और समझानेमें अधिक सुविधा होती है। विशेषतः मनुष्यका जो इन्द्रिय गोचर है, जिसको वह समझ सकता है, उसीके भीतरसे यदि कठिनसे कठिन विषय भी समझाया जाय, तो वह अनायास ही समझ सकता है। इसी कारण इस उपनिषत्का प्रारम्भ ही "केनेषितं पतति प्रेषितं मनः" इत्यादि प्रश्नोंद्वारा हुआ है और इसी कारण इसका नाम "केनोपनिषत्" है।

सब शास्त्रोंका बीजरूप वेद है, वेदका सार उपनिषत् है। जैसे मस्तक शरीरका सबसे उत्तमाङ्ग है, उसी प्रकार उपनिषत् भी वेदके उत्तमाङ्ग हैं। वेदके विज्ञानको समझाने और अन्तर्जगत्को दिखानेके लिये सातों वैदिक दर्शन नेत्ररूप हैं। उनमेंसे प्रथम द्वितीय आदि भूमियोंके दर्शन कहीं दूरसे अनुमान, कहीं प्रकृति पुरुष विवेक आदि द्वारा ब्रह्मका लक्ष्य करते हैं, केवल वेदान्त दर्शन ही अद्वितीय ब्रह्मको सिद्ध करके अद्वैतवादकी स्थापना करता है। द्वैत ही सब दुःखोंका मूलकारण है, द्वैत ही जीवको अपने प्रियतम सखा भगवान्‌से अलग कर नाना योनियोंमें जन्म-जरा-मरणादि नाना क्लेशकर अवस्थाओंमें घुमाता रहता है। जबतक द्वैतके आभासका भी अस्तित्व जीवके अन्तःकरणमें रहता है, कोई भी इस त्रितापकी दारुणयन्त्रणासे जीवकी रक्षा नहीं कर सकता है। इसी कारण अन्तिम दर्शनरूपी वेदान्तदर्शन द्वैतभावका समूल नाश करके एक अद्वैत ब्रह्मभावकी प्रतिष्ठा करता है। एवं इसी कारण मुमुक्षु जिज्ञासुओंके अन्तिम अवलम्बन, वेदके शिरोभागरूपी उपनिषत्समूह उसी अद्वैत ब्रह्मपदको लक्ष्य करानेके अर्थ यत्नवान् होते हैं। क्योंकि वहीं मुमुक्षुकी अन्तिम गति है। परमपूज्य भाष्यकार श्रीमच्छंकराचार्य्य प्रभुने भी सब दर्शनोंको एवं अन्तिम लक्ष्यरूपी अद्वैतवादके सिद्धान्तको मुख्य रखकर उपनिषदोंका भाष्य किया है। विना अद्वैतभूमिमें पहुंचे स्वस्वरूपकी उपलब्धि हो ही नहीं सकती है। ब्रह्मके दूरसे अनुमान या प्रकृतिपुरुष विवेक आदि सभी दशाओंमें कुछ व्यवधान शेष रह जाता है। जब अपरोक्षानुभूति द्वारा केवल स्वस्वरूपमें ही स्थिति हो जाती है, तभी आत्म-ज्ञानका पूर्णरूपसे उदय होना सम्भव है। इसी तुरीय

विज्ञानके अवलम्बनसे श्रीमत्प्रभुके भाष्यकी प्रवृत्ति हुई है। भाष्यमें जो वहुतसे विषय संक्षिप्त और जटिल हैं, टीकामें उनको सुखवोध्य वनानेका प्रयत्न किया गया है।

जिस समय शांकर-भाष्य सहित उपनिषद्रोंके अध्ययनका सुयोग हुआ था, एवं साथ ही स्वतन्त्ररूपसे परमाराध्य श्रीगुरुचरणोंमें उपनिषदोंके मननका सौभाग्य प्राप्त हुआ था: तभीसे यह प्रवल इच्छा हुई थी कि, उपनिषदोंके शांकर-भाष्यका हिन्दी अनुवाद होकर हिन्दी साहित्यकी पुष्टि हो, एवं जो शङ्कर-भक्तगण संस्कृत न जाननेके कारण शांकरभाष्यसे लाभ उठानेसे वंचित रहते हैं, उनकी यह असुविधा दूर हो। उसी समय उपनिषदोंके ऊपर एक ऐसी टीकाकी भी आवश्यकता प्रतीत हुई थी। क्योंकि श्रीमच्छङ्करप्रभुका आविर्भाव ऐसे अवसर पर हुआ था कि, उनको तात्कालीन वाधाओंके दूर करनेके लिये खण्डन-मण्डनमें वहुत ध्यान देना पड़ा था। वह प्रचण्ड वौद्ध-युग था, वौद्धलोग अहिंसाका पाठ पढ़ते पढ़ाते रहनेपर भी इतने प्रमादी और विषयी हो गये थे कि, कर्मकाण्डके आड़में हजारों हत्यायें देशमें होने लग गई थीं। इन सव अन्यायों और अत्याचारोंसे प्रजाकी रक्षा करनेके लिये श्रीमत्-प्रभुका आविर्भाव हुआ था। इसी कारण उस समयके अनुसार उनको कर्मकाण्डका एकवार ही खण्डन करके अद्वैतवाद-की प्रतिष्ठा करनी पड़ी थी। इत्यादि कारणोंसे उपनिषदोंके भाष्य जगह जगह अत्यन्त जटिल और दुर्वोध्य हो गये हैं। अतः ऐसी एक टीकाकी आवश्यकता थी, जिससे जिज्ञासुगण सुविधेके साथ उपनिषद्-रहस्यको हृदयङ्गम कर सकें। परमाराध्य श्रीगुरुचरणो एवं मंगलमयी जगन्नियन्त्री जगदम्वाकी कृपासे वही इच्छा अव कार्य्यरूपमें परिणत हुई है एवं परमा-

राध्य पूज्यपाद श्रीगुरुदेवने अपनी अहेतुकी दयासे इन उपनिषदोंपर टीका भी लिखवानेकी कृपा की। यह टीका ऐसी हुई है कि जिससे कहा जा सकता है कि ऐसी टीका उपनिषदोंपर अभी तक प्रकाशित नहीं हुई थी। क्यों न हो, जिस प्रकार विषय हम लोगोंका इन्द्रियगोचर है, उसी प्रकार ब्रह्म जिनका ज्ञानगोचर है, जिन्होंने उस पदको करतलामलकवत् प्रत्यक्ष कर लिया है, ऐसे महापुरुषोंके लिये यह बड़ी बात क्या है। आशा है ज्ञानपिपासु, मुमुक्षु जिज्ञासुओंका इससे विशेष उपकार और लाभ होगा।

अन्तमें, स्वदेश-हितैषी, स्वधर्मानुरागी, विविधगुणालङ्कृत, विज्ञान-कलाविशारद श्रीमान् बाबू दुर्गाप्रसाद महोदय बी. ए. को असंख्य हार्दिक धन्यवाद दिये बिना नहीं रहा जाता। श्रीमान्की ही उदार आर्थिक सहायतासे यह ग्रन्थ प्रकाशित हो रहा है। वास्तवमें इस कलिकालकी कुटिल-कराल गतिके दिनोंमें ऐसे धर्मकार्य्योंमें सच्चे हृदयसे उत्साह और सहायता देनेवाले आप जैसे उदार सज्जनोंका बड़ा ही अभाव है। आपकी अनेक असाधारण कला-कौशलसम्बन्धीय कुशलताको देख श्रीमहामण्डलने "विज्ञान-कला-विशारद" की उपाधिसे आपके गुणोंकी पूजा की है। आप जैसे धार्मिक जातीय-सेवक उदार व्यक्ति सर्वदा स्वस्थ, नीरोग और चिरायु रहें, आपकी कीर्त्ति-कौमुदी जगत्में परिव्याप्त हो, यही सर्वशक्तिमयी जगदम्बाके पाद-पङ्कजमें निरन्तर विनीत प्रार्थना है।

—श्रीगुरुपादपद्माश्रित।

अवतरणिका।

—०✻०—

ईशावास्योपनिषत्‌की तरह केनोपनिषत् भी मन्त्र, अन्वय, मन्त्रार्थ, शांकरभाष्य, शांकरभाष्यके हिन्दी अनुवाद और उपनिषत्सुबोधिनी नामक वैज्ञानिक टीका सहित हिन्दी साहित्यकी पुष्टि एवं स्वदेशहितैषी, स्वधर्मानुरागी, राष्ट्रीयभाषा हिन्दीके प्रेमियो और मुमुक्षु पाठकोके निमित्त प्रकाशित हुई। ईशोपनिषत्‌की अपेक्षा केनोपनिषत्‌की विशेषता यह है कि, इसमें श्रुतिने प्रश्नोत्तरप्रणालीका अवलम्बन करके ब्रह्म जैसे दुरवगाह्य विषयको साधारण मनुष्य-बुद्धिगम्य बनानेका प्रयत्न किया है। भगवान् मनुने कहा है कि,—"नापृष्टः कस्यचित् ब्रूयात्" अर्थात् बिना पूछे कुछ न कहे। इसका तात्पर्य यह है कि, जिस विषयमें किसीकी जिज्ञासा होती है उसके जाननेके लिये वह विशेष उत्सुक भी रहता है, उस समय प्रत्युत्तर मिलनेपर वह उसको ठीक ठीक समझ सकता है, एवं जाननेके लिये कौतूहल रहनेके कारण, वह बात जिज्ञासुके अन्तःकरणमें बद्धमूल भी हो जाती है। अर्थात् प्रश्नोत्तररूपसे विषयके समझने और समझानेमें अधिक सुविधा होती है। विशेषतः मनुष्यका जो इन्द्रिय गोचर है, जिसको वह समझ सकता है, उसीके भीतरसे यदि कठिनसे कठिन विषय भी समझाया जाय, तो वह अनायास ही समझ सकता है। इसी कारण इस उपनिषत्‌का प्रारम्भ ही "केनेषितं पतति प्रेषितं मनः" इत्यादि प्रश्नोद्वारा हुआ है और इसी कारण इसका नाम "केनोपनिषत्" है।

सब शास्त्रोंका बीजरूप वेद है, वेदका सार उपनिषत् हैं। जैसे मस्तक शरीरका सबसे उत्तमाङ्ग है, उसी प्रकार उपनिषत् भी वेदके उत्तमाङ्ग हैं। वेदके विज्ञानको समझाने और अन्तर्जगत्को दिखानेके लिये सातों वैदिक दर्शन नेत्ररूप हैं। उनमेंसे प्रथम द्वितीय आदि भूमियोंके दर्शन कहीं दूरसे अनुमान, कहीं प्रकृति पुरुष विवेक आदि द्वारा ब्रह्मका लक्ष्य करते हैं, केवल वेदान्त दर्शन ही अद्वितीय ब्रह्मको सिद्ध करके अद्वैतवादकी स्थापना करता है। द्वैत ही सब दुःखोंका मूलकारण है, द्वैत ही जीवको अपने प्रियतम सखा भगवान्‌से अलग कर नाना योनियोंमें जन्म-जरा-मरणादि नाना क्लेशकर अवस्थाओंमें घुमाता रहता है। जबतक द्वैतके आभासका भी अस्तित्व जीवके अन्तःकरणमें रहता है, कोई भी इस त्रितापकी दारुणयन्त्रणासे जीवकी रक्षा नहीं कर सकता है। इसी कारण अन्तिम दर्शनरूपी वेदान्तदर्शन द्वैतभावका समूल नाश करके एक अद्वैत ब्रह्मभावकी प्रतिष्ठा करता है। एवं इसी कारण मुमुक्षु जिज्ञासुओंके अन्तिम अवलम्बन, वेदके शिरोभागरूपी उपनिषत्समूह उसी अद्वैत ब्रह्मपदको लक्ष्य करानेके अर्थ यत्नवान् होते हैं। क्योंकि वहीं मुमुक्षुकी अन्तिम गति है। परमपूज्य भाष्यकार श्रीमच्छंकराचार्य्य प्रभुने भी सब दर्शनोंको एवं अन्तिम लक्ष्यरूपी अद्वैतवादके सिद्धान्तको मुख्य रखकर उपनिषदोंका भाष्य किया है। बिना अद्वैतभुमिमें पहुंचे स्वस्वरूपकी उपलब्धि हो हीं नहीं सकती है। ब्रह्मके दूरसे अनुमान या प्रकृतिपुरुष विवेक आदि सभी दशाओंमें कुछ व्यवधान शेष रह जाता है। जब अपरोक्षानुभूति द्वारा केवल स्वस्वरूपमें ही स्थिति हो जाती है, तभी आत्म-ज्ञानका पूर्णरूपसे उदय होना सम्भव है। इसी तुरीय

विज्ञानके अवलम्बनसे श्रीमत्प्रभुके भाष्यकी प्रवृत्ति हुई है। भाष्यमें जो बहुतसे विषय संक्षिप्त और जटिल हैं, टीकामें उनको सुखबोध्य बनानेका प्रयत्न किया गया है।

जिस समय शांकर-भाष्य सहित उपनिषदोंके अध्ययनका सुयोग हुआ था, एवं साथ ही स्वतन्त्ररूपसे परमाराध्य श्रीगुरुचरणोंमें उपनिषदोंके मननका सौभाग्य प्राप्त हुआ था; तभीसे यह प्रबल इच्छा हुई थी कि, उपनिषदोंके शांकर-भाष्यका हिन्दी अनुवाद होकर हिन्दी साहित्यकी पुष्टि हो, एवं जो शङ्कर-भक्तगण संस्कृत न जाननेके कारण शांकरभाष्यसे लाभ उठानेसे वंचित रहते हैं, उनकी यह असुविधा दूर हो। उसी समय उपनिषदोंके ऊपर एक ऐसी टीकाकी भी आवश्यकता प्रतीत हुई थी। क्योंकि श्रीमच्छङ्करप्रभुका आविर्भाव ऐसे अवसर पर हुआ था कि, उनको तात्कालीन बाधाओंके दूर करनेके लिये खण्डन-मण्डनमें बहुत ध्यान देना पड़ा था। वह प्रचण्ड बौद्ध-युग था, बौद्धलोग अहिंसाका पाठ पढ़ते पढ़ाते रहनेपर भी इतने प्रमादी और विषयी हो गये थे कि, कर्मकाण्डके आड़में हजारों हत्यायें देशमें होने लग गईं थीं। इन सब अन्यायों और अत्याचारोंसे प्रजाकी रक्षा करनेके लिये श्रीमत्-प्रभुका आविर्भाव हुआ था। इसी कारण उस समयके अनुसार उनको कर्मकाण्डका एकवार ही खण्डन करके अद्वैतवाद-की प्रतिष्ठा करनी पड़ी थीं। इत्यादि कारणोंसे उपनिषदोंके भाष्य जगह जगह अत्यन्त जटिल और दुर्बोध्य हो गये हैं। अतः ऐसी एक टीकाकी आवश्यकता थी, जिससे जिज्ञासुगण सुविधेके साथ उपनिषद्-रहस्यको हृदयङ्गम कर सकें। परमाराध्य श्रीगुरुचरणो एवं मंगलमयी जगन्नियन्त्री जगदम्बाकी कृपासे वही इच्छा अब कार्य्यरूपमें परिणत हुई है एवं परमा-

गण्य पूज्यपाद श्रीगुरुदेवने अपनी अहेतुकी दयासे इन उपनिषदोंपर टीका भी लिखवानेकी कृपा की। यह टीका ऐसी हुई है कि जिससे कहा जा सकता है कि ऐसी टीका उपनिषदोंपर अभी तक प्रकाशित नहीं हुई थी। क्यों न हो, जिस प्रकार विषय हम लोगोंका इन्द्रियगोचर है, उसी प्रकार ब्रह्म जिनका ज्ञानगोचर है, जिन्होंने उस पदको करतलामलकवत् प्रत्यक्ष कर लिया है, ऐसे महापुरुषोंके लिये यह बड़ी बात क्या है। आशा है ज्ञानपिपासु, मुमुक्षु जिज्ञासुओंका इससे विशेष उपकार और लाभ होगा।

अन्तमें, स्वदेश-हितैषी, स्वधर्मानुरागी, विविधगुणालङ्कृत, विज्ञान-कलाविशारद श्रीमान् बाबू दुर्गाप्रसाद महोदय बी. ए. को असंख्य हार्दिक धन्यवाद दिये बिना नहीं रहा जाता। श्रीमान्की ही उदार आर्थिक सहायतासे यह ग्रन्थ प्रकाशित हो रहा है। वास्तवमें इस कलिकालकी कुटिल-कराल गतिके दिनोंमें ऐसे धर्मकार्य्योंमें सच्चे हृदयसे उत्साह और सहायता देनेवाले आप जैसे उदार सज्जनोंका बड़ा ही अभाव है। आपकी अनेक असाधारण कला-कौशलसम्बन्धीय कुशलताको देख श्रीमहामण्डलने "विज्ञान-कला-विशारद" की उपाधिसे आपके गुणोंकी पूजा की है। आप जैसे धार्मिक जातीय-सेवक उदार व्यक्ति सर्वदा स्वस्थ, नीरोग और चिरायु रहें, आपकी कीर्त्ति-कौमुदी जगत्में परिव्याप्त हो, यही सर्वशक्तिमयी जगदम्बाके पाद-पङ्कजमें निरन्तर विनीत प्रार्थना है।

—श्रीगुरुपादपद्माश्रित।

ॐ तत्सत्

भाष्यभूमिका

केनेषितमित्याद्योपनिषत् परब्रह्मविषया वक्तव्येति नवमस्याध्यायस्यारम्भः। प्रागेतस्मात् कर्माण्यशेषतः परिसमापितानि, समस्तकर्माश्रयभूतस्य च प्राणस्य उपासनानि उक्तानि कर्म्माङ्गसामविषयाणि च। अनन्तरञ्च गायत्रसामविषयं दर्शनं वंशान्तमुक्तम् कार्य्यम्। सर्वमेतद्यथोक्तं कर्मच ज्ञानंच सम्यगनुष्ठितं निष्कामस्य मुमुक्षोः सत्त्वशुद्ध्यर्थं भवति, सकामस्यतु ज्ञानरहितस्य केवलानि श्रौतानि स्मार्तानि च कर्माणि दक्षिणमार्गप्रतिपत्तये पुनरावृत्तये च भवन्ति। स्वाभाविक्या त्वशास्त्रीयया प्रवृत्त्या पश्वादिस्थावरान्ताधोगतिः स्यात्। "अथैतयोः पथोर्न कतरेण च न तानीमानि क्षुद्राणि असकृदावर्त्तीनि भूतानि भवन्ति। जायस्व म्रियस्व इत्येतत् तृतीयं स्थानम्।" इति श्रुतेः। "प्रजाह तिस्रो अत्यायमीयुः।" इति मन्त्रवर्णाद् विशुद्धसत्त्वस्य तु निष्कामस्यैव बाह्यादनित्यात् साध्यसाधनसम्बन्धात् इह कृतात् पूर्वकृताद्वा संस्कारविशेषोद्भवाद् विरक्तस्य प्रत्यगात्मविषया जिज्ञासा प्रवर्त्तते। तदेतद्वस्तु प्रश्नप्रतिवचनलक्षणया श्रुत्या प्रदर्श्यते—केनेषितमित्याद्यया। काठकेचोक्तम्—"पराञ्चिखानि व्यतृणत् स्वयंभुस्तस्मात् पराङ् पश्यति नान्तरात्मन्। कश्चित् धीरः प्रत्यगात्मानमैक्षदावृत्तचक्षुरमृतत्वमिच्छन्॥" इत्यादि। "परीक्ष्य लोकान् कर्मचितान् ब्राह्मणो निर्वेदमायान्नास्त्यकृतः कृतेन।" "तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत् समित्पाणिः श्रोत्रियम् ब्रह्मनिष्ठम्।"

इत्याद्याथर्वणे च । एवं हि विरक्तस्य प्रत्यगात्मविषयं विज्ञानं श्रोतुं मन्तुं विज्ञातुं च सामर्थ्यमुपपद्यते, नान्यथा । एतस्माच्च प्रत्यगात्मब्रह्मविज्ञानात् संसारबीजमज्ञानं कामकर्मप्रवृत्तिकारणमशेषतो निवर्त्तते, "तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः" इतिमन्त्रवर्णात्, "तरति शोकमात्मवित्" इति, "भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः। क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे ॥" इत्यादिश्रुतिभ्यश्च ।

कर्मसहितादपि ज्ञानादेतत् सिध्यतीति चेत्, न, वाजसनेयके तस्य अन्यकारणत्ववचनात् । "जाया मे स्यात्" इति प्रस्तुत्य "पुत्रेणायं लोको जय्यो, नान्येन कर्मणा । कर्मणा पितृलोको विद्यया देवलोकः" इत्यात्मनोऽन्यस्य लोकत्रयस्य कारणत्वमुक्तं वाजसनेयके । तत्रैव च पारिव्राज्यविधाने हेतुरुक्तः,—"किंप्रजया करिष्यामो येषांनोऽयमात्माऽयं लोकः।" इति। तत्रायं हेत्वर्थः,—प्रजा—कर्म-तत्-संयुक्तविद्याभिर्मनुष्य-पितृ-देव-लोकत्रयसाधनैः अनात्मलोकप्रतिपत्तिकारणैः किं करिष्यामः । न चास्माकं लोकत्रयमनित्यं साधनसाध्यमिष्टं येषामस्माकं स्वाभाविकोऽजोऽजरोऽमृतोऽभयो न वर्द्धते, कर्मणा नो कनीयान्नित्यश्च लोक इष्टः । स च नित्यत्वान्नाविद्यानिवृत्तिव्यतिरेकेण अन्यसाधननिष्पाद्यः । तस्मात् प्रत्यगात्मब्रह्मविज्ञानपूर्वकः सर्वैषणासन्न्यास एव कर्तव्य इति ।

कर्मसहभावित्वविरोधाच्च प्रत्यगात्मब्रह्मविज्ञानस्य । न ह्युपात्तकारकफलभेदविज्ञानेन कर्मणा प्रत्यस्तमितसर्वभेददर्शनस्य प्रत्यगात्मब्रह्मविषयस्य सहभावित्वमुपपद्यते । वस्तुप्राधान्ये सति अपुरुषतन्त्रत्वाद् ब्रह्मविज्ञानस्य । तस्मात् दृष्टादृष्टेभ्यो बाह्यसाधनसाध्येभ्यो विरक्तस्य प्रत्यगात्मविषया ब्रह्मजिज्ञासेयं केनेषितमित्यादि श्रुत्या प्रदर्श्यते, शिष्याचार्य्यप्रश्नप्रतिवचनरूपेण कथनन्तु सूक्ष्मवस्तुविषयत्वात् सुखप्रति-

पत्तिकारणं भवति, केवलतर्कागम्यत्वञ्च दर्शितं भवति, "नैषा तर्केण मतिरापनेया" इति श्रुतेश्च। "आचार्य्यवान् पुरुषो वेद" "आचार्य्याद्ध्येव विद्या विदिता साधिष्ठ प्रापत्" इति, 'तद्विद्धि, प्रणिपातेन" इत्यादिश्रुतिस्मृतिनियमाच्च । कश्चिद्गुरुं ब्रह्मनिष्ठं विधिवदुपेत्य प्रत्यगात्मविषयादन्यत्र शरणमपश्यन्नभयं नित्यं शिवमचलमिच्छन् पप्रच्छेति कल्प्यते, केनेषितमित्यादि ।

भाष्यभूमिकानुवाद ।

अनन्तर ब्रह्मप्रतिपादक केनोपनिषद् कहनी होगी, इस कारण नवम अध्याय प्रारम्भ हुआ है। इससे पहले कर्म का सम्पूर्ण रूप से वर्णन होचुका है, सब कर्मों का आश्रयभूत प्राणोपासना तथा कर्माङ्गभूत सामोपासना भी कथित हो चुकी है। इसके बाद "गायत्र" साम सम्बन्ध का चिन्तन तथा शिष्यपरम्परा से आया हुआ ऋषिवंश पर्य्यन्त जोकुछ आवश्यक है, वे सब कहे गये हैं। तदनन्तर पूर्व कथित कर्म और ज्ञान ये सब ही सम्यक् अनुष्ठित होनेपर निष्काम मुमुक्षु के लिये सत्त्वशुद्धिप्रद होते हैं, परन्तु-ज्ञान रहित सकाम व्यक्ति के लिये श्रुति और स्मृति शास्त्रोक्त कर्म समूहसे दक्षिणायनगति तथा पुनरावृत्ति (वारवार जन्म मरण) होती है और जो कर्म शास्त्रविहित नहीं हैं, केवल स्वाभाविक प्रवृत्ति से सम्पादित होते हैं, ऐसे कर्मों के द्वारा पशु आदि से लेकर स्थावर योनिपर्य्यन्त गति होती है। श्रुति इस विषय का प्रमाण है यथा– (जो स्वाभाविकवृत्ति से कर्म करते हैं वे) दक्षिणायन या उत्तरायण दोनो मार्गोंमेंसे एकमें भी नहीं जाते, वे असकृत– आवर्त्ती अर्थात् वार वार जन्म मरण शील ये सब क्षुद्र प्राणियों के रूपमें जन्म धारण किया करते हैं। जायस्व म्रियस्व नामक

तृतीय स्थान है।" "प्रजा ह तिस्रो अत्यायमीयुः" अर्थात् जरायुजादि त्रिविध प्राणी ही देवयान, पितृयान को अतिक्रमण करके दुःखकर गति को लाभ करते हैं। इत्यादि श्रुतियों से विदित होता है कि, जो विशुद्ध अन्तःकरण और निष्काम हैं, ऐहलौकिक, पारलौकिक शुभ संस्कार के उद्बुद्ध होने से साध्यसाधनमय अनित्य वाहरी साधनोंमें विरक्त हुये हैं, केवल उन्हीं लोगो को आत्मविषयक जिज्ञासा हुआ करती है। यही विषय "केनेषितं" इत्यादि श्रुति द्वारा प्रश्न लक्षण से प्रदर्शन कराया जाता है। कठोपनिषद् में भी कहा है कि "स्वयंभुभगवान्‌ने इन्द्रियों को वहिर्मुख करके सृष्टि की है, इस कारण वे वाहर की ओर देखती हैं। अन्तरात्मा को नहीं देखतीं। किसी किसी धीर पुरुषने अमृतत्व की अभिलाषासे आवृतचक्षु होकर परमात्मा को देखा है" इत्यादि। अथर्वोपनिषद् में भी है-"कर्म द्वारा प्राप्त करने योग्य लोको की परीक्षा करके ब्राह्मण निर्वेद (वैराग्य) को प्राप्त करें।" "वह शिष्य समित्पाणि होकर ब्रह्मज्ञान लाभ के लिये वेदज्ञ और ब्रह्मनिष्ठ गुरुके समीप जावे।" इत्यादि। इसी प्रकार से वैराग्य सम्पन्न होने से आत्मज्ञान के सम्बन्ध में श्रवण, मनन और निदिध्यासन की शक्ति उत्पन्न होती है, अन्यथा नहीं। इस आत्मतत्त्व विज्ञान से संसार का वीजरूप अज्ञान और काम-कर्म-प्रवृत्ति का कारण निवृत्त हो जाता है। "एक तत्त्वदर्शी केलिये शोक ही क्या है और मोह ही क्या है" "आत्मज्ञ शोक को अतिक्रम करता है" "उनके दर्शन होनेपर दर्शक के हृदय की ग्रन्थि खुल जाती है, सव संशय छिन्न हो जाते हैं और कर्मसमूह नष्ट हो जाते हैं।" इत्यादि श्रुतिद्वारा भी प्रमाणित है।

यदि प्रश्न हो कि, कर्म सहित ज्ञान से भी यह विषय

सिद्ध हो सकता है ? नहीं हो सकता है, क्योंकि, वाजसनेयक उपनिषद् में कर्म सहित ज्ञान का अन्य प्रकार फल कहा गया है—प्रारम्भ में " हमें स्त्री हो " ऐसा प्रारम्भ करके "पुत्र के द्वारा यह लोक जय करने योग्य है अन्य कर्म के द्वारा नहीं। कर्म के द्वारा पितृलोक, विद्या के द्वारा देवलोक लाभ हो सकता है। " इस प्रकार से कर्म सहित ज्ञान को लोकत्रय लाभ का कारण कहा गया है आत्मलाभ का कारण नहीं। पुनः उसी उपनिषद् में सन्न्यास ग्रहण का हेतु कहा गया है कि, " हम लोग उस प्रजा (सन्तान) द्वारा क्या करेंगे, जिससे आत्म-लोक नहीं प्राप्त होता है।" इसका तात्पर्य्य यह है कि, प्रजा, कर्म और कर्मसंयुक्त विद्या ये तीनो यथा क्रम मनुष्यलोक, पितृ-लोक और देवलोकप्राप्तिके साधन हैं, साध्य-साधन-विशिष्ट अनित्य ये लोकत्रय हमारे अभीष्ट नहीं हैं, हमारी आत्मा स्वभाव से ही अजर, अमर, अमृत, अभय और नित्य है, वह कर्म द्वारा वृद्धि-ह्रास को नहीं प्राप्त होती है। इस कारण कर्म से हमें कोई प्रयोजन नहीं है। हमारा अभीष्ट वह आत्मा नित्य होने से अविद्यानिवृत्ति के सिवाय अन्य साधन द्वारा प्रतिपाद्य नहीं है। इस कारण जीव–ब्रह्म की एकता समझ कर सर्व इच्छा त्याग करके संन्यास ग्रहण अवश्य कर्त्तव्य है।

जीवब्रह्मत्वबोध कर्म का सम्पूर्णरूप से विरोधी है, इस कारण भी आत्मज्ञान के साथ कर्म का समुच्चय नहीं हो सकता है, क्योंकि, कर्मानुष्ठान में कारक-भेद तथा स्वर्गलोकादि फल-भेद-ज्ञान रहना आवश्यक होता है और आत्मविषयक ज्ञान में वह समस्त भेदबुद्धि लुप्त होजाती है, सुतरां इन दोनो की एक साथ अवस्थिति असम्भव है। विशेषतः ब्रह्मात्मविज्ञान वस्तुप्रधान अर्थात् वस्तु की सत्यताके अनु-

सार ज्ञान उत्पन्न होता है; इसमें कर्त्ताकी कोई स्वाधीनता नहीं है। अतः जानना चाहिये कि, ऐहलौकिक पारलौकिक भोग तथा बाह्य साध्यसाधन से वैराग्य-सम्पन्न व्यक्ति के लिये ही 'केनेषितम्' इत्यादि द्वारा ब्रह्म जिज्ञासा प्रदर्शित हो रही है। यह प्रतिपाद्य विषय अत्यन्त सूक्ष्म होने के कारण अनायास ही बुद्धिगम्य होसके, इसलिये इस विषय का शिष्य तथा आचार्य्य के प्रश्न प्रत्युत्तररूप से निरूपण किया गया है और केवल तर्क से इसका अगम्यत्व प्रदर्शित हुआ है। श्रुति ने कहा है कि "यह आत्मविषया बुद्धि तर्क द्वारा नहीं प्राप्त की जाती।" "आचार्य्यवान् पुरुष जानने में समर्थ होता है" "आचार्य्य के द्वारा प्राप्त विद्या ही उत्तम फल प्राप्त कराती है।" भगवान् ने भी कहा है कि हे "अर्जुन! गुरु के समीप नत होकर उसको जानो।" इत्यादि श्रुतिस्मृति से पूर्वोक्त विज्ञान समर्थित होता है। अतएव मुमुक्षुव्यक्तिने परमात्मज्ञानभिन्न अन्य कोई आश्रय न जानकर यथाविधि ब्रह्मनिष्ठ गुरु को प्राप्त करके अभय, नित्यकल्याणमय आश्रय लाभ की इच्छा से इस विषय में प्रश्न किया था। ऐसा ही अभिप्राय उक्त वाक्य से कल्पना की जा सकती है॥

ॐतत्सत्।

सामवेदीया

केनोपनिषत्।

प्रथमः खण्डः।

आप्यायन्तु ममाङ्गानि वाक्प्राणश्चक्षुः श्रोत्रमथो बलमिन्द्रियाणि च सर्वाणि। सर्वं ब्रह्मोपनिषदं माहं ब्रह्म निराकुर्य्यां मा मा ब्रह्मनिराकरोदनिराकरणमस्त्वनिराकरणं मेऽस्तु। तदात्मनि निरते य उपनिषत्सु धर्मास्ते मयि सन्तु, ते मयि सन्तु॥ ओं शान्तिः शान्तिः शान्तिः॥ हरिः ॐ॥

शान्तिपाठ।

हमारे समस्त अंग, वाक्, प्राण, चक्षु, श्रोत्र, बल तथा इन्द्रियां वृद्धिलाभ करें। उपनिषत्-प्रतिपादित ब्रह्म हमारे निकट प्रतिभात हो, मैं ब्रह्मको अस्वीकार न करूं तथा ब्रह्म भी हमको परित्याग न करे। उसके निकट हमारा तथा हमारे निकट उसका सर्वदा नियत सम्बन्ध विद्यमान रहे और आत्मनिष्ठ मुझमें उपनिषत् कथित धर्म प्रकाशित हो।

टीका ।

मंगलाचरणकी रीति वैदिकसम्प्रदायसे अनुमोदित है। उपनिषद्में भी प्रायः मंगलाचरणके मन्त्र पहले देखनेमें आते हैं। कोई कार्य्य प्रारम्भ हो, परमात्मामें अन्तःकरणको युक्त करके कार्य्यारम्भ करनेसे अगणित फलकी प्राप्ति होती है। यह मन्त्र भी मंगलाचरण-सूचक है और मंगलाचरणके विचारसे पूर्णावयव है। मन्त्रके प्रथम अंशमें धर्माविरुद्ध कामकी पूर्णता दिखाई है। मध्यमें परमार्थकी सिद्धि और अन्तमें परमधर्मकी सिद्धि प्रतिपादित हुई है, जिससे उपनिषद्के श्रवण, मनन और निदिध्यासनका प्रारम्भ हुआ है, जो मोक्षरूप है। अतः यह मन्त्र चतुर्वर्गप्राप्तिका कारणरूप होनेसे परममंगल-दायक है।

केनेषितं पतति प्रेषितं मनः,
केन प्राणः प्रथमः प्रैति युक्तः ।
केनेषितां वाचमिमां वदन्ति,
चक्षुः श्रोत्रं क उ देवो युनक्ति ॥१॥

मनः केन इषितं (अभिप्रेतं) प्रेषितं (प्रेरितं च सत्) पतति (स्वविषयं प्रति गच्छति)। केन युक्तः (नियुक्तः प्रेरितः सन्) प्रथमः (श्रेष्ठः) प्राणः प्रैति (स्वव्यापारं प्रति गच्छति)। केन इषितां वाचम् इमाम् (शब्दलक्षणां) वदन्ति (लोकाः इति शेषः) (तथा) चक्षुः श्रोत्रं (च) कः उ (अपि) देवः (द्योतनवान्) युनक्ति (युङ्क्ते, प्रेरयति) ॥ १ ॥

मन्त्रार्थ ।

मन किसकी इच्छासे प्रेरित होकर (अपने विषयमें) गमन करता है ? श्रेष्ठ प्राण किसके द्वारा नियुक्त होकर गमनागमन करता है ? किसकी इच्छासे प्रेरित होकर लोग शब्दोच्चारण करते हैं ? तथा कौन देवता इस चक्षु और कर्णको अपने अपने विषयमें नियुक्त करते हैं ? ॥ १ ॥

शाङ्कर-भाष्यम् ।

केनेषितमिति । केन कर्त्रा इषितं इष्टम् अभिप्रेतं सत् मनः पतति गच्छति स्वविषय प्रतीति सम्बध्यते । इषेराभीक्ष्णार्थस्य गत्यर्थस्य च इहासम्भवात् इच्छार्थस्यैव एतद्रूपमिति गम्यते । इषितमिति इट् प्रयोगस्तु छान्दसः, तस्यैव प्रपूर्वस्य नियोगार्थे प्रेषितमित्येतत् । तत्र प्रेषितमित्येवोक्ते प्रेषयितृप्रेषणविशेषविषयाकाङ्क्षा स्यात्, केन प्रेषयितृविशेषेण, कीदृशं वा प्रेषणमिति । इषितमिति तु विशेषणे सति तदुभयं निवर्त्तते । कस्य इच्छामात्रेण प्रेषितमित्यर्थविशेषनिर्धारणात् ।

यद्येषोऽर्थोऽभिप्रेतः स्यात्, केनेषितमित्येतावतैव सिद्धत्वात् प्रेषितमिति न वक्तव्यम् । अपि च शब्दाधिक्यादर्थाधिक्यं युक्तमितीच्छया कर्मणा वाचा वा केन प्रेषितमित्यर्थविशेषोऽवगन्तुं युक्तः । न; प्रश्नसामर्थ्यात्, देहादिसंघातात् अनित्यात् कर्मकार्य्यात् विरक्तः अतोऽन्यत् कूटस्थं नित्यं वस्तु बुभुत्समानः पृच्छतीति सामर्थ्यादुपपद्यते । इतरथा इच्छावाक्कर्मभिः देहादिसंघातस्य प्रेरयितृत्वं प्रसिद्धमिति प्रश्नोऽनर्थक एव स्यात् । एवमपि प्रेषितशब्दस्यार्थो न प्रदर्शित एव ? न, संशयवतोऽयं प्रश्न इति प्रेषितशब्दस्यार्थविशेष उपपद्यते । किं यथा प्रसिद्धमेव कार्य्यकारण-

संघातस्य प्रेषयितृत्वं, किंवा संघातव्यतिरिक्तस्य स्वतन्त्रस्य इच्छामात्रेणैव मन-आदिप्रेषयितृत्वम्, इत्यस्य अर्थस्य प्रदर्शनार्थं "केनेषितं पतति प्रेषितं मनः" इतिविशेषणद्वयमुपपद्यते ।

ननु स्वतन्त्रं मनः स्वविषये स्वयं पततीति प्रसिद्धम्; तत्र कथं प्रश्न उपपद्यते इति ? उच्यते—यदि स्वतन्त्रं मनः प्रवृत्तिनिवृत्तिविषये स्यात् तर्हि सर्वस्य अनिष्टचिन्तनं न स्यात्, अनर्थं च जानन् संकल्पयति, अत्युग्रदुःखे च कार्य्ये वार्य्यमाणमपि प्रवर्त्तत एव मनः । तस्मात् युक्त एव केनेषितमित्यादिप्रश्नः । केन प्राणो युक्तो नियुक्तः प्रेरितः सन्, प्रैति गच्छति स्वव्यापारं प्रति । प्रथम इति प्राणविशेषणं स्यात्, तत्पूर्वकत्वात् सर्वेन्द्रियप्रवृत्तीनाम् । केन इषितां वाचमिमां शब्दलक्षणां वदन्ति लौकिकाः तथा चक्षुः श्रोत्रं च स्वे स्वे विषये क उ देवो द्योतनवान् युनक्ति नियुङ्क्ते प्रेरयति ॥ १ ॥

भाष्यानुवाद ।

मन किस कर्त्ताकी इच्छासे प्रेरित होकर अपने विषयमें प्रवृत्त होता है ? 'इष' धातुका अर्थ आभीक्ष्ण्य (पौनः पुन्य) गति और इच्छा है, इसमें आभीक्ष्ण्य और गति अर्थ यहां सम्भव नहीं है । इस कारण यहां 'इष' धातुका प्रयोग इच्छाअर्थमें समझना उचित है । 'प्रेषित' शब्द भी इच्छार्थक 'इष' धातुमें 'प्र' उपसर्ग योगसे बना है । यहां इसका अर्थ नियुक्त करना है । श्रुतिमें यदि 'इषितं' न कहकर केवल 'प्रेषितं' ही कहा जाता तो प्रेषयिता और प्रेषण सम्बन्धमें विशेष जाननेके लिये पुनः जिज्ञासा होती, अर्थात् मन जिसकी प्रेरणासे धावित होता है,

वह प्रेषयिता कौन है ? तथा उसका प्रेषण किस प्रकारका है ? इत्यादि जिज्ञासा रह ही जाती, किन्तु "इषितं" विशेषणसे ही ये दोनों शंकाएं स्वतः निवृत्त हो जाती हैं।

अब प्रश्न यह होता है कि, यदि इसी प्रकार अर्थ निरूपण करना श्रुतिका अभिप्राय है, तो "इषितं" पदसे वही अभिप्राय सिद्ध हुआ, तब पुनः "प्रेषितं" विशेषण प्रयोग उचित नहीं होता; विशेषतः जब शब्दके आधिक्यसे अर्थका भी आधिक्य होना युक्तिसिद्ध है, तो यह भी अर्थ हो सकता है कि, जो अपनी इच्छा, चेष्टा वा वाक्य द्वारा मनको चलाते हैं, वे कौन हैं ? नहीं, प्रश्न सामर्थ्यसे ही ऐसा प्रतीत नहीं हो सकता है; क्योंकि उक्त प्रश्नसे मालूम होता है कि, किसी व्यक्तिने मानों इन्द्रियादिके समष्टिभूत, अनित्य, देहादिसे विरक्त (वैराग्य-सम्पन्न) होकर देहादिसे अतिरिक्त एक कूटस्थ, नित्य वस्तुके अन्वेषणके अभीष्टसे इस प्रकार प्रश्नका आविर्भाव किया है। इस कारण उसके लिये उक्त प्रकारका अविश्वासमूलक प्रश्न कदापि सम्भव नहीं हो सकता है। पक्षान्तरमें, इन्द्रियादिसंघातमय यह देह, इच्छा, चेष्टा और वाक्य द्वारा मनको प्रेरित करता है, यह सभी जानते हैं और प्रश्नकर्त्ता भी अवश्य ही इस बातको जानते हैं। अतः ऐसे प्रश्नकर्त्ताके लिये उक्त प्रकारका अर्थहीन प्रश्न उठाना निष्प्रयोजन हो जाता है, ऐसा करनेपर भी "प्रेषित" शब्दका कोई अर्थ नहीं दिखाया गया ? नहीं, यह प्रश्न भी युक्तियुक्त नहीं है,

क्योंकि, संशयवान्के इस प्रश्नमें 'प्रेषित' शब्दसे विशेष अर्थ प्रतिपन्न होता है। अर्थात् इन्द्रियादि तथा कार्य्य कारण-संघातमय देह जो 'प्रेषयिता' रूपसे लोकप्रसिद्ध है क्या वास्तवमें वह देह ही प्रेषयिता है? या उसके अतिरिक्त, स्वतन्त्र कोई है, जिसकी इच्छामात्रसे ही मन आदिका प्रेषणकार्य्य सम्पादित हुआ करता है, इस प्रकार विशेष अभिप्राय प्रदर्शनके निमित्त ही 'इषित' और 'प्रेषित' ये दो विशेषण प्रयुक्त हुए हैं।

अब प्रश्न यह होता है कि, स्वतन्त्र मन अपने विषयमें स्वयं ही गमन करता है, यह तो लोकप्रसिद्ध ही है पुनः यह प्रश्न कैसे उठ सकता है? इसका उत्तर यह है कि, मन यदि अपने प्रवृत्तिनिवृत्ति विषयमें स्वाधीन होता, तो सबकी अनिष्टचिन्ता न होती, किन्तु मन जान बुझकर भी अनर्थ चिन्ता किया करता है, अति उग्र दुःखजनक कार्य्यमें भी मन प्रवृत्त हुआ करता है; (स्वाधीन होनेसे ऐसा नहीं होता) इस कारण 'केनेषितं' इत्यादि प्रश्न युक्तियुक्त ही है।

प्राण किसके द्वारा प्रेरित होकर अपने व्यापारमें नियुक्त होता है? प्राण सब इन्द्रियोंसे प्रथमोत्पन्न है, इस कारण प्राणको 'प्रथम' विशेषणसे विशेषित किया गया है। साधारण लोग किससे प्रेरित होकर शब्द उच्चारण करते हैं? तथा चक्षु और श्रोत्र किस देवता (द्युतिमान्) से प्रेरित होकर अपना अपना कार्य्य सम्पादन करते हैं? ॥१॥

टीका ।

यावत् उपनिषदोंका प्रतिपाद्य परमात्मरूपी ब्रह्म है, उसी स्वस्वरूपकी उपलब्धिमें यह मन्त्र पथप्रदर्शक है। प्रथम जो कुछ जिज्ञास्य है, उसका यथावत् प्रश्न करके तदनन्तर यदि उत्तर दिया जाय, तो सिद्धान्तके हृदयङ्गम करनेमें बड़ा सुविधा होती है। आत्माकी उपलब्धिमें सहायता देनेके अर्थ ही प्रश्नरूपसे इस मन्त्रकी प्रवृत्ति है ॥ १ ॥

श्रोत्रस्य श्रोत्रं मनसो मनो यद्
वाचो ह वाचं स उ प्राणस्य प्राणः ।
चक्षुषश्चक्षुरतिमुच्य धीराः,
प्रेत्यास्माल्लोकादमृता भवन्ति ॥ २ ॥

यत् (यः) श्रोत्रस्य श्रोत्रं, (कार्य्यप्रवृत्तिहेतुः) मनसः मनः (मननप्रयोजकम्) वाचः ह वाचं (वाक्) सः (देवः) उ (अपि) प्राणस्य प्राणः चक्षुषः चक्षुः (श्रोत्रादेः श्रोत्रादि लक्षणं ब्रह्म विदित्वा) अतिमुच्य (श्रोत्रादिषु आत्मबुद्धिं परित्यज्य) धीराः (धीमन्तः) अस्मात् लोकात् प्रेत्य (मृत्वा) अमृताः (अमरधर्माणः) भवन्ति ॥ २ ॥

मन्त्रार्थ ।

जो श्रोत्रका श्रोत्र (प्रवर्त्तक), मनका मन और वाक्यका भी वाक्य है, वही प्राणका भी प्राण है, उसको चक्षुका चक्षुस्वरूप जान कर बुद्धिमानगण शरीरादिमें आत्मबुद्धि परित्याग करके मृत्युके अनन्तर अमृतत्वलाभ करते हैं, अर्थात् अमर हो जाते हैं ॥ २ ॥

शाङ्कर-भाष्यम् ।

एवं पृष्टवते योग्याय आह गुरुः, शृणु त्वं यत् पृच्छसि,—मनआदि-करणजातस्य को देवः स्वविषयं प्रति प्रेरयिता, कथं वा प्रेरयतीति । श्रोत्रस्य श्रोत्रं शृणोत्यनेनेति श्रोत्रं—शब्दस्य श्रवणं प्रति करणं शब्दाभिव्यञ्जकं श्रोत्रमिन्द्रियम्, तस्य श्रोत्रं सः यस्त्वया पृष्टः—चक्षुः श्रोत्रं क उ देवो युनक्तीति । असावेवं विशिष्टः श्रोत्रादीनि नियुङ्क्त इति वक्तव्ये—नन्वेतदननुरूपं प्रतिवचनं श्रोत्रस्य श्रोत्रमिति । नैषः दोषः,—तस्य अन्यथा विशेषानवगमात् । यदि हि श्रोत्रादिव्यापारव्यतिरिक्तेन स्वव्यापारेण विशिष्टः श्रोत्रादिनियोक्ता अवगम्येत, दात्रादिप्रयोक्तृवत् तदिदमननुरूपं प्रतिवचनं स्यात् । नत्विह श्रोत्रादीनां प्रयोक्ता स्वव्यापारविशिष्टो लविन्नादिवत् अधिगम्यते । श्रोत्रादीनामेव तु संहतानां व्यापारेण आलोचन-संकल्पाध्यवसायलक्षणेन फलावसानलिङ्गेन अवगम्यते । अस्ति हि श्रोत्रादिभिरसंहतो, यत्-प्रयोजनप्रयुक्तः श्रोत्रादिकलापो गृहादिवत् इति, संहतानां परार्थत्वात् अवगम्यते श्रोत्रादीनां प्रयोक्ता । तस्मात् अनुरूपमेवेदं प्रतिवचनं श्रोत्रस्य श्रोत्रमित्यादि ।

कः पुनरत्र पदार्थः "श्रोत्रस्य श्रोत्रम्" इत्यादेः । न ह्यत्र श्रोत्रस्य श्रोत्रान्तरेणार्थः—यथा प्रकाशकस्य प्रकाशान्तरेण । नैष दोषः । अयमत्र पदार्थः—श्रोत्रं तावत् स्वविषयव्यञ्जनसमर्थं दृष्टम्; तच्च स्वविषयव्यञ्जन-सामर्थ्यं श्रोत्रस्य चैतन्ये ह्यात्मज्योतिषि नित्येऽसंहते सर्वान्तरे सति भवति, नासति इति अतः श्रोत्रस्य श्रोत्रमित्याद्युपपद्यते । तथा च श्रुत्यन्तराणि,—"आत्मनैवायं ज्योतिषास्ते" "तस्य भासा सर्वमिदं विभाति" "येन सूर्य्य-स्तपति तेजसेद्धः" इत्यादीनि । " यदादित्यगतं तेजो जगद्भासयतेऽखिलम्"

"क्षेत्रं क्षेत्री तथा कृत्स्नं प्रकाशयति भारत," इत्यादि गीतासु। काठकेच,—"नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानाम्" इति। श्रोत्राद्येव सर्वस्यात्मभूतं चेतनमिति प्रसिद्धं; तदिह निवर्त्तते। अस्ति किमपि विद्वद्बुद्धिगम्यं सर्वान्तरतमं कूटस्थमजरममृतमभयमजं श्रोत्रादेरपि श्रोत्रादि, तत्सामर्थ्यनिमित्तमिति प्रतिवचनं, शब्दार्थश्चोपपद्यत एव।

तथा मनसोऽन्तःकरणस्य मनः। न ह्यन्तःकरणमन्तरेण चैतन्यज्योतिषा दीपितं स्वविषयसंकल्पाध्यवसायादिसमर्थं स्यात्। तस्मान्मनसोऽपि मन इति। इह बुद्धिमनसी एकीकृत्य निर्देशो "मनसः" इति।

यद्वाचो ह वाचं;—यच्छब्दो यस्मादर्थे श्रोत्रादिभिः सर्वैः सम्बध्यते। यस्मात् श्रोत्रस्य श्रोत्रं, यस्मान्मनसो मन इत्येवम्। वाचो ह वाचमिति द्वितीया प्रथमात्वेन विपरिणम्यते, प्राणस्य प्राण इति दर्शनात्। वाचो ह वाचमित्येतदनुरोधेन प्राणस्य प्राणमिति कस्माद्द्वितीयैव न क्रियते? न; बहूनामनुरोधस्य युक्तत्वाद् वाचमित्यस्य वागित्येतावद् वक्तव्यम्, स उ "प्राणस्य प्राणः" इति शब्दद्वयानुरोधेन; एवं हि बहूनामनुरोधो युक्तः कृतः स्यात्। पृष्टं च वस्तु प्रथमैव निर्देष्टुं युक्तम्। स यस्त्वया पृष्टः प्राणस्य प्राणाख्यवृत्तिविशेषस्य प्राणः तत् कृतं हि प्राणस्य प्राणनसामर्थ्यम्। न ह्यात्मना अनधिष्ठितस्य प्राणमुपपद्यते। "को ह्येवान्यात्, कः प्राण्यात्, यदेष आकाश आनन्दो न स्यात्," "ऊर्ध्वं प्राणमुन्नयत्यपानं प्रत्यगस्यति" इत्यादि श्रुतिभ्यः। इहापि च वक्ष्यते,—"येन प्राणः प्रणीयते, तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि," इति। श्रोत्रादीन्द्रियप्रस्तावे घ्राणप्राणस्य ननु युक्तं ग्रहणम्? सत्यमेवं, प्राणग्रहणेनैवतु घ्राणप्राणस्य ग्रहणं कृतम्;—एवं मन्यते श्रुतिः। सर्वस्यैव करणकलापस्य यदर्थप्रयुक्ता प्रवृत्तिस्तद् ब्रह्मेति प्रकरणार्थो विवक्षितः।

तथा चक्षुषश्चक्षुः, रूपप्रकाशकस्य चक्षुषो यद्रूपग्रहणसामर्थ्यं, तत् आत्मचैतन्याधिष्ठितस्यैव अतश्चक्षुषश्चक्षुः। प्रष्टुः पृष्टस्यार्थस्य ज्ञातुमिष्टत्वात् श्रोत्रादेः श्रोत्रादिलक्षणं यथोक्तं ब्रह्म ज्ञात्वेति अध्याह्रियते। "अमृता भवन्ति" इति फलश्रुतेश्च। ज्ञानाद्ध्यमृतत्वं प्राप्यते, "ज्ञात्वा विमुच्यते" इति सामर्थ्यात् श्रोत्रादिकरणकलापमुज्झित्वा—श्रोत्रादौ ह्यात्मभावं कृत्वा तदुपाधिः सन् तदात्मना जायते म्रियते संसरति च। अतः श्रोत्रादेः श्रोत्रादिलक्षणं ब्रह्म आत्मेति विदित्वा अतिमुच्य श्रोत्राद्यात्मभावं परित्यज्य ये श्रोत्राद्यात्मभावं परित्यजन्ति, ते धीरा धीमन्तः। नहि विशिष्टधीमत्त्वमन्तरेण श्रोत्राद्यात्मभावः शक्यः परित्यक्तुम्। प्रेत्य—व्यावृत्य अस्माल्लोकात् पुत्रमित्रकलत्रबन्धुषु ममाहंभावसंव्यवहारलक्षणात् त्यक्तसर्वैषणा भूत्वेत्यर्थः। अमृता अमरणधर्माणो भवन्ति। "न कर्मणा न प्रजया धनेन त्यागेनैके अमृतत्वमानशुः," "पराञ्चिखानि व्यतृणत्।" "आवृत्तचक्षुरमृतत्वमिच्छन्।" "यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते," "अत्र ब्रह्म समश्नुते"—इत्यादि श्रुतिभ्यः। अथवा अतिमुच्य इत्यनेनैव एषणात्यागस्य सिद्धत्वात् अस्माल्लोकात् प्रेत्य अस्माच्छरीरात प्रेत्य मृत्वेत्यर्थः॥ २॥

भाष्यानुवाद।

इस प्रकार प्रश्नकरनेवाले योग्य शिष्यको गुरुने कहा कि, तुम जो मन आदि करण समूहोंका या इन्द्रियोंका अपने अपने विषयमें प्रेरयिता और प्रेरणसम्बन्धसे प्रश्न करते हो उसका उत्तर श्रवण करो। जिसके द्वारा शब्द श्रवण किया जाता है, अर्थात् जो शब्द सुननेका कारण स्वरूप है, शब्दव्यञ्जक (प्रकाशक) उसी इन्द्रियका नाम श्रोत्र है। कौन

देवता चक्षु और श्रोत्रको स्वविषयमें नियुक्त करते हैं? इसप्रकार तुमने जिसके सम्बन्धमें पूछा है, वे उस श्रोत्रके भी श्रोत्र हैं। अब शंका यह होती है कि, प्रश्नके अनुकूल उत्तर नहीं हुआ। प्रश्न था कि, कौन देवता चक्षुश्रोत्रादिको अपने अपने विषयमें नियुक्त करते हैं। इसका उत्तर न देकर श्रोत्रका श्रोत्र कहनेसे प्रश्नके अनुरूप उत्तर नहीं हुआ। नहीं, इसमें दोष नहीं है, क्योंकि, उस प्रेरयिताका अन्य ऐसा कोई विशेष धर्म नहीं जाना जाता; जिसके द्वारा दात्रादि प्रयोक्ताकी तरह उसका भी स्वरूप निर्देश किया जा सके। वस्तुतः श्रोत्रादिका प्रेरक श्रीभगवान्‌को यदि इस व्यापार (कार्य) से भिन्न भी उनके निजके व्यापार द्वारा परिचित किया जा सकता, तो अवश्य ही इस प्रकार अनुपयुक्त उत्तर देना दोषयुक्त होता; परन्तु श्रोत्रादिके प्रेरयिता तो कभी भी छेदन कर्त्ताकी तरह स्वकीय किसी व्यापारके द्वारा अवगम्यमान नहीं होते, किन्तु संहत श्रोत्रादि पदार्थोंके आलोचन, संकल्प अध्यवसायादि कार्य्य समूहोंके द्वारा उनका अस्तित्व सिद्ध होता है। तात्पर्य्य यह है कि, जिस प्रकार गृह गृहस्वामीके उपभोगके लिये ही होता है, उसी प्रकार श्रोत्रादिसे असंहत, तथा जिसके प्रयोजनके लिये श्रोत्रादि प्रयुक्त होते हैं, ऐसा कोई श्रोत्रादिका प्रयोक्ता है, ऐसा ज्ञान होता है। क्योंकि, संहत पदार्थ दूसरेके उपभोगके लिये होते हैं; इस कारण "श्रोत्रस्य श्रोत्रं" यह प्रत्युत्तरकथन अनुरूप ही है।

प्रश्न होता है कि ऐसा होनेसे "श्रोत्रस्य श्रोत्रं" इत्यादि पदका अर्थ कैसे होगा? किसी एक प्रदीपके द्वारा जिस प्रकार प्रकाशमय अन्य दीपकी कुछ भी प्रयोजन सिद्धि नहीं होती, उसी प्रकार एक श्रोत्रका भी एक अन्य श्रोत्रके द्वारा कुछ भी प्रयोजन सिद्ध नहीं हो सकता? नहीं, इस प्रकार दोष नहीं है। इसका अर्थ यहां इस प्रकार है,—श्रवणेन्द्रियमें स्वविषय (शब्द) ग्रहण करनेका सामर्थ्य देखा जाता है, परन्तु नित्य, असंहत, सबके अन्तःकरणमें विराजमान आत्म-ज्योतिके विद्यमान रहनेसे ही श्रवणका वह विषयाभिव्यञ्जनत्व रहता है। यदि वह आत्मज्योति न रहे, तो श्रवणेन्द्रियका स्वविषयग्रहण सामर्थ्य भी नहीं रहेगा। क्योंकि आत्मा ही श्रवणेन्द्रियके शक्ति प्रकाशका कारण है, इस कारण उसके लिये "श्रोत्रका भी श्रोत्र" इस पदका प्रयोग युक्तियुक्त ही है। यथा अन्य श्रुतियोंमें—"यह पुरुष आत्मज्योति द्वारा ही कार्य्य किया करता है।" "यह समस्त जगत् उन्हींकी दीप्तिसे प्रकाशित हुआ करता है।" "सूर्य्य उन्हींकी दिप्तिसे दिप्तिमान् होकर उत्ताप दिया करते हैं।" तथा "आदित्यगत जो तेज जगत्को प्रकाशित करता है (वह मेरा तेज है)।" "हे भारत! क्षेत्री इसी प्रकार समस्त जगत्को प्रकाशित करता है।" इत्यादि गीता वाक्य इसका प्रमाण है। "वे (पर-मात्मा) नित्यका भी नित्य, और चेतनका भी चेतन है।" इत्यादि कठोपनिषदीय वाक्य भी इसको दृढ़ करता है।

तात्पर्य्य यह है कि, श्रोत्रादि ही सबका आत्मभूत चेतन है, इस प्रकारकी साधारणमें प्रसिद्धि है, यह भ्रान्ति दूर की गई है। अर्थात् केवल ज्ञानीजन बुद्धिगम्य, सबका अन्तरस्थ, कुटस्थ, अजर,अमर, अमृत, अभय, श्रोत्रादि (ज्ञानेन्द्रियों) का भी श्रोत्र एक ऐसा कोई वस्तु है, जिसके रहनेसे ही श्रोत्रादि इन्द्रियगण अपना अपना कार्य्य करनेमें समर्थ होती हैं। अतएव श्रुत्युक्त प्रतिवचन और शब्दार्थ दोनों ही युक्तियुक्त हैं।

वे मन—अन्तःकरणके भी मन हैं। क्योंकि विना उस चेतनज्योतिके प्रकाशित हुए अन्तःकरणरूपी मन संकल्प, स्वाध्याय आदि अपना कार्य्य करनेमें समर्थ नहीं होता है। इस कारण वे मनके भी मन हैं। यहां बुद्धि और मन दोनों-को एक करके "मनसः" का प्रयोग हुआ है।

"यद् वाचो ह वाचम्" यहां 'यत्' शब्दका यस्मात् अर्थमें अर्थात् हेत्वर्थमें प्रयोग हुआ है, तथा श्रोत्रादि सबोंके साथ सम्बन्ध रखता है। अर्थ इस प्रकार है—जिस कारण वह श्रोत्रका श्रोत्र है और जिस कारण मनका भी मन है। और "प्राणस्य प्राणः" यहां प्राण शब्द प्रथमान्त होनेसे "वाचो ह वाचम्" इस 'वाचम्' शब्दकी द्वितीया विभक्तिको प्रथमा विभक्तिमें परिणत करना होगा। अब शंका यह होती है कि, 'वाचो ह वाचम्' इस द्वितीया विभक्तिके अनुसार 'प्राणस्य प्राणम्' यानि एक वचनान्त प्राण शब्दको द्विवचना-

न्तमें क्यों न परिणत किया जाय? ऐसी शंका युक्तियुक्त नहीं है, क्योंकि वहुके अनुरोधसे एक का परिवर्त्तन ही युक्ति सिद्ध है। विशेषतः यहां "स उ प्राणस्य प्राणः" इन दोनों शब्दोंके प्रथमान्त होनेके कारण "वाचम्" द्वितीयान्तको 'वाक्' करना ही ठीक है। (वाचो ह वाक्) वाक्यका वाक् इस प्रकार अर्थ करना ही युक्ति संगत होगा। और दूसरी वात प्रश्नका उत्तर प्रथमा द्वारा ही युक्तियुक्त होता है। तात्पर्य्य यह है कि, 'तुमने जिसके सम्बन्धमें पूछा है, वह प्राणका भी प्राण है। अर्थात् उसकी सहायतासे ही प्राणवृत्ति अपने कार्य्यको सम्पन्न करती है। क्योंकि आत्माका अधिष्ठान न होनेसे कदापि भी प्राणक्रिया सम्पन्न नहीं होती है। यदि "आनन्दस्वरूप यह आकाश (ब्रह्म) न होता, तो कौन जीवित रहता या कौन प्राण धारण करता?" "वे ही प्राणको ऊद्ध्वगामी और अपान वायुको अधोगामी करते हैं।" इत्यादि श्रुतिसे यह सिद्ध है और यहां भी कहा जायगा कि, "जिसके द्वारा प्राण प्रेरित होता है, उसीको ब्रह्म जानो।" अब शंका यह हो सकती है कि, श्रोत्रादिके प्रसंगमें प्राण शब्दसे घ्राणेन्द्रिय समझना युक्तियुक्त है? (क्योंकि प्राणसे प्राणवायुको समझना अप्रा-सङ्गिक है) ठीक है, किन्तु श्रुतिका तात्पर्य है कि, समस्त इन्द्रियगण (कारण कलाप) जिस हेतु अपने अपने कार्य्यमें प्रवृत्त होती हैं, वे ही ब्रह्म हैं, यही इस प्रकरणका अर्थ है। इस कारण 'प्राण' ग्रहणसे ही घ्राणका ग्रहण भी हो ही जाता

है। वह नेत्रका भी नेत्र है। अर्थात् नेत्रकी जो रूप ग्रहण करनेकी शक्ति है, वह चेतन आत्माके अधिष्ठानसे ही है; इस कारण चक्षुका भी चक्षु है। प्रश्नकर्त्ताको अपने जिज्ञास्य विषयको जाननेकी इच्छा रहती है। इस कारण एक 'ज्ञात्वा' क्रिया समझ कर इसका अर्थ यों करना चाहिये कि, श्रोत्रादि-का भी श्रोत्रादि रूप ब्रह्मको जानकर—विशेषतः फल श्रुतिमें अमृतत्वकी बात है और ज्ञान विना मुक्ति नहीं होती इस कारण यही अर्थ युक्तिसगत है। ज्ञानके द्वारा ही अमृतत्व प्राप्त किया जाता है, "जानकर मुक्त होता है।" तात्पर्य यह है कि साधारणतः अज्ञगण श्रोत्रादि इन्द्रियोंमें ही आत्मबुद्धि उत्पन्न करके उसीसे उत्पन्न उपाधि द्वारा जनन, मरण आदि रूप संसारमें भटकते रहते हैं। अतः श्रोत्रादिका श्रोत्रादि लक्षणरूप ब्रह्मको आत्मरूपसे जानकर जो श्रोत्रादिमें आत्म-भावका परित्याग करते हैं, वे ही वस्तुतः बुद्धिमान् हैं। क्योंकि विना विशेष बुद्धि सम्पन्न हुए श्रोत्रादिमें आत्मभावका परित्याग नहीं हो सकता है। वे ही लोग इस लोकसे मृत्युके अनन्तर पुत्र, मित्र, कलत्र, बन्धु आदिमें "मैं मेरा" आदि भावको त्याग करके वासनारहित होकर अमर हो जाते हैं। "कर्म, सन्तान और धनके द्वारा नहीं, केवल त्यागके द्वारा ही अमृतत्व लाभ होता है।" भगवान्ने इन्द्रियोंको बहिर्मुख बनाया।" "अमृतत्वकी इच्छासे बाह्य दृष्टिको अन्तर्मुख किया था।" "जब (वासना) परित्याग होता है" "इसी अवस्था-

में ब्रह्मकी प्राप्ति होती है।" इत्यादि श्रुतियोंसे यही अभिप्राय सिद्ध होता है। अथवा 'अतिमुच्य' शब्दके द्वारा एषणा त्यागकी भी सिद्धि होनेसे 'प्रेत्य' शब्दसे इस शरीरसे प्रयाण करके—मृत्युके बाद, ऐसा भी अर्थ हो सकता है ॥ २ ॥

टीका ।

पूर्व मन्त्रमें जिज्ञासा है, इस मन्त्रमें समाधान है। जिस "एकमेवाद्वितीयम्" श्रुति द्वारा प्रतिपादित चिन्मय तथा सर्व अन्तरात्मरूपी ब्रह्मके आश्रयसे यावत् दृश्य प्रपञ्चकी स्थिति है, जिसकी सत्तासे पिण्ड और ब्रह्माण्डात्मक जगत्का अनुभव होता है, उसी स्वस्वरूपकी उपलब्धिके लिये इस मन्त्रकी प्रवृत्ति है। इस मन्त्रमें मन, प्राण, वाक्, श्रोत्र और चक्षु शब्द आये हैं, उनमें कोई विज्ञानका क्रम नहीं है। वे पद केवल लक्ष्यको दृढ़ करानेके अर्थ ही प्रयुक्त हुए हैं। पूर्व-कथित विज्ञानके अनुसार आवरणरहित बुद्धिकी सहायतासे विचार करनेसे यही अनुभूति होगी कि, एक मात्र आत्माके अस्तित्वसे ही मन बुद्धि आदि अन्तःकरण चतुष्टय तथा सर्व-धारक प्राण और मात्रास्पर्श उत्पन्नकारी इन्द्रियोंका अस्तित्व है। इसी कारण प्राणका प्राण, मनका मन कहकर उनका लक्ष्य कराया है। और इस प्रकारसे पूर्वापर अनुसन्धान द्वारा स्वानुभव उत्पन्न करनेसे बुद्धि उस ब्रह्ममयमें पहुँच सकती है। इस मन्त्रमें 'धीर' शब्द वेदके त्रिभावात्मकरूपके अनु-सार त्रिविध अर्थ बोधक है। 'धीर' शब्दसे धृति-सम्पन्न,

समाधिसम्पन्न और निर्मलबुद्धिसम्पन्न ये ही तीन अर्थ प्रकाशित होते हैं। मलरहित होनेसे साधक सात्त्विक धृति-सम्पन्न होता है, विक्षेपरहित होनेसे उसका चित्तवृत्ति-निरोध होकर उसको निर्विकल्प समाधिकी प्राप्ति होती है, और बुद्धि आवरण रहित होनेसे आत्मज्ञानका उदय होकर स्वस्वरूपकी उपलब्धि हो जाती है। 'धीर' शब्द इन तीनों भावोंमें ही प्रयुक्त होता है। अतः इस प्रकारसे धीर महापुरुष देहाध्यासको छोड़कर आवागमन चक्रसे और कर्मबन्धनसे मुक्त होकर शरीरान्त होनेपर निःश्रेयसको प्राप्त कर लेता है ॥ २ ॥

न तत्र चक्षुर्गच्छति न वाग् गच्छति नो मनः।
न विद्मो न विजानीमो यथैतदनुशिष्यात् ॥३॥
अन्यदेव तद्विदितादथो अविदितादधि।
इति शुश्रुम पूर्वेषां ये नस्तद्व्यचचक्षिरे ॥४॥

तत्र (तस्मिन् ब्रह्मणि) चक्षुः न गच्छति, वाक् न गच्छति, मनः नो (न गच्छति) [वयं] [तत्] न विद्मः (न जानीमः) यथा एतत् (ब्रह्म) अनुशिष्यात् (शिष्याय उपदिशेत्) न विजानीमः तत् (ब्रह्म) विदितात् (विदिक्रियाकर्मभूतात्) अन्यत् (पृथक्) एव। अविदितात् (अज्ञातात्) अथो (अपि) अधि (उपरि अन्यत्) ये नः (अस्मभ्यं) तत् (ब्रह्मतत्त्वं) व्यचचक्षिरे (व्याख्यातवन्तः) [तेषां] पूर्वेषां (आचार्य्याणाम्) इति (एवं वचनं) [वयं] शुश्रुम (श्रुतवन्तः) ॥३॥४॥

मन्त्रार्थ।

यहां (ब्रह्ममें) चक्षु नहीं जाता है, वाक् नहीं जाता है. मन भी नहीं जाता, हम उनको नहीं जानते हैं और आचार्य्य-गण इस ब्रह्मतत्त्वको किस प्रकार शिष्यको उपदेश करते हैं, सो भी नहीं समझते हैं। वह स्थूलसे पृथक् है और सूक्ष्मसे भी पृथक् है। जिन्होंने हमारे निकट इस तत्त्वकी व्याख्या की थी, उन्हीं पूर्वाचार्योंसे यह बात सुनी है ॥३॥४॥

शांकरभाष्यम्।

यस्मात् श्रोत्रादेरपि श्रोत्राद्यात्मभूतं ब्रह्म, अतो न तत्र तस्मिन् ब्रह्मणि चक्षुर्गच्छति स्वात्मनि गमनासम्भवात्। तथा न वाग् गच्छति। वाचा हि शब्द उच्चार्य्यमाणोऽभिधेयं प्रकाशयति यदा, तदाऽभिधेयं प्रति वाग् गच्छतीत्युच्यते। तस्य च शब्दस्य तन्निवर्त्तकस्य च करणस्य आत्मा ब्रह्म अतो न वाग् गच्छति। यथा अग्निर्दाहकः प्रकाशकश्चापि सन् नहि आत्मानं प्रकाशयति दहति च, तद्वत्। नो मनः, मनश्चान्यस्य संकल्पयितृ अध्यवसायितृ च सत् आत्मानं संकल्पयति अध्यवस्यति च। तस्यापि ब्रह्म आत्मेति। इन्द्रियमनोभ्यां हि वस्तुनो विज्ञानं, तदगोचरत्वात् न विद्म तद्ब्रह्म ईदृशमिति, अतो न विजानीमः—यथा येन प्रकारेण एतद् ब्रह्म अनुशिष्यात् उपदिशेत् शिष्याय इत्यभिप्रायः। यद्धि करणगोचरं तदन्यस्मै उपदेष्टुं शक्यं जातिगुणक्रियाविशेषणैः। न तज्जात्यादिविशेषणवद् ब्रह्म। तस्माद्विषमं शिष्यानुपदेशेन प्रत्याययितुमिति।

उपदेशे तदर्थग्रहणे च यत्नातिशयकर्त्तव्यतां दर्शयति—"न विद्मः" इत्यादि। अत्यन्तमेवोपदेशप्रकारप्रत्याख्याने प्राप्ते तदपवादोऽयमुच्यते,—

सत्यमेवं प्रत्यक्षादिभिः प्रमाणैर्नपरः प्रत्याययितुं शक्यः आगमेन तु शक्यत एव प्रत्याययितुं । तदुपदेशार्थमागममाह—अन्यदेव तद्विदितादथो अविदितादधीति । अन्यदेव पृथगेव तत् यत् प्रकृतं श्रोत्रादीनां श्रोत्रादीत्युक्तमविषयश्च तेषाम् । तद् विदितात् अन्यदेव हि, विदितं नाम, यद् विदिक्रियया अतिशयेनाप्तं, तद्विदिक्रियाकर्मभूतं क्वचित् किंचित् कस्यचित् विदितं स्यादिति सर्वमेव व्याकृतं तद्विदितमेव तस्मादन्यदेवेत्यर्थः । अविदितमज्ञातं तर्हीति प्राप्ते आह—अथो अपि अविदितात् विदितविपरीतात् अव्याकृतात् अविद्यालक्षणात व्याकृतबीजात्, अधीति उपर्य्यर्थे । लक्षणया अन्यदित्यर्थः ।

यद्धि यस्मादधि उपरि भवति तत् तस्मादन्यदिति प्रसिद्धम् यद् विदितं तदल्पं मर्त्यं दुःखात्मकं चेति हेयम् । तस्माद्विदितादन्यत् ब्रह्मेत्युक्ते तु अहेयत्वमुक्तम् स्यात् । तथा अविदितादधीत्युक्तेऽनुपादेयत्वमुक्तं स्यात् । कार्य्यार्थं हि कारणमन्यत् अन्येन उपादीयते, अतश्च न वेदितुरन्यस्मै प्रयोजनाय अन्यदुपादेयं भवतीत्येवं विदिताविदिताभ्यामन्यदिति हेयोपादेयप्रतिषेधेन स्वात्मनः अन्यब्रह्मविषया जिज्ञासा शिष्यस्य निवर्त्तिता स्यात् । न ह्यन्यस्य स्वात्मनो विदिताविदिताभ्यामन्यत्वं वस्तुनः सम्भवतीत्यात्मा ब्रह्मेत्येष वाक्यार्थः । "अयमात्मा ब्रह्म" "य आत्मा अपहतपाप्मा" "यत् साक्षादपरोक्षाद्ब्रह्म ।" "य आत्मा सर्वान्तरः" इत्यादि श्रुत्यभ्यन्तरेभ्यश्च इत्येवं सर्वात्मनः सर्वविशेषरहितस्य चिन्मात्रज्योतिषो ब्रह्मप्रतिपादकस्य वाक्यार्थस्य आचार्योपदेशपरम्परया प्राप्तत्वमाह—इति शुश्रुमेत्यादि । ब्रह्म चैवमाचार्य्योपदेशपरम्परया एव अधिगन्तव्यम् न तर्कतः प्रवचनमेधा–बहुश्रुततपोयज्ञादिभ्यश्च । इत्येव

शुश्रुम श्रुतवन्तो वयं पूर्वेषामाचार्य्याणां वचनम् । ये आचार्य्या नोऽस्मभ्यं तद्ब्रह्म व्यचचक्षिरे व्याख्यातवन्तो विस्पष्टं कथितवन्तः तेषामित्यर्थः ॥ ४ ॥

भाष्यानुवाद ।

चूंकि ब्रह्म श्रोत्रादिओंका भी श्रोत्रादि स्वरूप है, इस कारण उस ब्रह्ममें चक्षु आदिकी गति नहीं है, क्योंकि अपने हीमें अपनी गति होना असम्भव है । इसी प्रकार वाक् भी उस ब्रह्म तक नहीं जाता, क्योंकि उच्चारण किये हुए शब्द द्वारा जब किसी वस्तुका प्रकाश होता है, तब वाक् अभिधेयके प्रति जाता है ऐसा कहा जाता है । परन्तु ब्रह्म जब उस शब्द तथा शब्दके करणस्वरूप इन्द्रियोंका आत्माभूत है, तब आत्मा-में वाककी गति असम्भव है । जिस प्रकार अग्नि प्रकाशक और दाहक होने पर भी अपनेको प्रकाशित और दग्ध नहीं कर सकती है, इसी प्रकार वाकका उदाहरण भी समझने योग्य है । ब्रह्म मनका भी आत्मस्वरूप है, अतः मन अन्य विषयमें संकल्प और अध्यवसाय करने पर भी ब्रह्मके विषयमें उसकी गति नहीं होती है । इन्द्रिय और मनके द्वारा ही वस्तुका ज्ञान हुआ करता है, ब्रह्म जब उस इन्द्रिय और मनके अगोचर है, तो उसको " ईदृश " करके नहीं जानते हैं । तात्पर्य यह है कि ब्रह्म जब मन और इन्द्रियोंसे अगोचर है, तब उसको "इस प्रकार है" ऐसा कह कर किसी विशेष आकारके द्वारा शिष्यको निर्देश नहीं किया जा सकता है । कारण यह है कि जो इन्द्रियगोचर है, उसीको जाति, गुण, क्रिया आदि विशे-

षणोंके द्वारा दूसरेको समझाया जासकता है। ब्रह्ममें उस जाति आदि विशेषणका अभाव है, अतः उसको (ब्रह्मको) उपदेश द्वारा शिष्यको प्रतीतिगम्य कराना कठिन है।

ब्रह्मतत्त्व उपदेश करनेके लिये और उपदिष्टार्थ हृदयंगम करनेके लिये निरतिशय प्रयत्नकी आवश्यकता है, इसी बातको "न विद्मः" इत्यादि वाक्यों द्वारा प्रदर्शन करते हैं। पूर्वोक्त वाक्योंसे यह जाना गया है कि ब्रह्मतत्त्व बिलकुल ही उपदेशके बाहरकी वस्तु है, अब उसका अपवाद कहा जाता है कि, सचमुच परब्रह्मको प्रत्यक्ष आदि प्रमाणोंके द्वारा प्रतीतिगम्य नहीं कराया जासकता, किन्तु आगमके द्वारा उसको प्रतीति· गम्य कराया जासकता है। इस कारण "अन्यदेव तद्विदि· तादथो अविदितादधि" आगम प्रमाणका निर्देश किया जाता है। श्रोत्रादिओंका श्रोत्रादिस्वरूप जो ब्रह्म श्रोत्रादिओंका अगो· चर करके वर्णित हुआ है, वह अवश्य ही विदितसे पृथक् है। विदितका अर्थ—जो विदिक्रिया द्वारा सम्यक् रूपसे प्राप्त हो अर्थात् विदिक्रियाका कर्मभूत कोई वस्तु भी यथा समय किसी मनुष्य द्वारा जाना जाता है अतएव समझना चाहिये कि पांचभौतिक वस्तु मात्र ही "विदित" शब्दसे अभिहित हुआ करता है; ब्रह्म इस 'विदित' से पृथक् है। ऐसा कहनेसे यह न समझ लिया जाय कि ब्रह्म अविदित अर्थात् अज्ञात अव्याकृतके अन्तर्गत हैं इसलिये कहते हैं कि वह अविदित,अर्थात् विदितके विपरीत और व्याकृत स्थूल जगत्का बीजस्वरूप अव्याकृत

अविद्यासे भी 'अधि' ऊपर अर्थात् पृथक् है। 'अधि' का अर्थ ऊपर होता है, उसका लक्ष्यार्थ*—अन्यत् अथवा पृथक् भी होता है। क्योंकि जो वस्तु जिसके ऊपर होता है वह उससे पृथक् अवश्य होता है। अतएव लक्ष्यार्थमें पृथक् अर्थ ठीक है।

जो वस्तु विदित या विज्ञानका विषयीभूत है, वह अल्प (परिच्छिन्न) मर्त्य (विनाशशील) और दुःखात्मक है इस कारण हेय (त्याज्य) है। ब्रह्मको विदितसे भिन्न कहनेसे उसका अहेयत्व कहा गया और अविदितसे ऊपर कहनेसे उसका अनुपादेयत्व कहा गया। साधारणतः देखा जाता है कि,—किसी कार्य्यको सम्पादन करनेके लिये एक दूसरे साधनकी अपेक्षा हुआ करती है, किन्तु स्वतः पूर्ण वेदिताको किसी साधनकी अपेक्षा नहीं रहती है। इस कारण आत्माको विदित और अविदितसे पृथक् निर्देश करनेसे उसका हेय-उपादेयसे पृथक् होना भी सिद्ध हुआ। और आत्मातिरिक्त ब्रह्मके विषयमें जो शिष्यकी जिज्ञासाकी आशंका थी, वह भी निवृत्त हुई। आत्माके अतिरिक्त और कोई पदार्थ विदित और अविदितसे पृथक् नहीं हो सकता। इस कारण विदित और अविदितसे पृथक् आत्माका ब्रह्मभाव प्रतिपादन करना ही उक्तवाक्यका अभिप्राय है। अर्थात् यही आत्मा ब्रह्मस्वरूप है।

---

* प्रत्येक शास्त्रीय शब्दोंके दो प्रकारके अर्थ हुआ करते हैं, जिसे वाक्यार्थ और लक्ष्यार्थ कहते हैं।

"यह आत्मा ब्रह्मस्वरूप है" "जो निष्पाप आत्मास्वरूप है" "जो साक्षात् ब्रह्मस्वरूप है" "जो आत्मा सबके अन्तरस्थित है" इत्यादि श्रुति वाक्य भी इस विषयका प्रमाण है ।

इस प्रकार सर्वात्मक, सर्वविशेष शुद्धचैतन्यका ब्रह्मत्व प्रतिपादक उक्त वाक्यार्थ गुरुपरम्परा क्रमसे प्राप्त होता है इसको निर्देश करनेके लिये "इति शुश्रुम" वाक्यका प्रयोग हुआ है । तात्पर्य्य यह है कि आचार्य्योंके उपदेश परम्परासे ही उपरोक्त ब्रह्मतत्त्व जाना जाता है; तर्क, प्रवचन, मेधा, बहुशास्त्रपाठ, तपस्या और यज्ञादि द्वारा उसको नहीं जाना जा सकता है । जिन पूर्वाचार्य्योंने हम लोगोंके निकट इस ब्रह्मतत्त्वकी व्याख्या की है, उनके निकट हमलोगोंने उक्त उपदेश सुना है ॥ ४ ॥

टीका

परमात्मा पदार्थवाद दर्शनके अनुमान विज्ञानद्वारा जाने नहीं जा सकते हैं, क्योंकि पहले देखी हुई वस्तुका ही सुगमतासे अनुमान किया जा सकता है । वे अलौकिक प्रत्यक्ष द्वारा भी देखे नहीं जा सकते हैं, जैसा कि सांख्य प्रवचन दर्शन विज्ञानने ईश्वरके विषयमें कहा है । क्योंकि परमात्मा गुणातीत हैं । वे केवल अनुभवगम्य हैं । उनकी अपरोक्षानुभूति करनेकी प्रथम शैली पूर्वमन्त्रमें प्रकाशित है । अब यह दूसरी शैली दूसरे प्रकारसे इस मन्त्रमें कही गई है । वे प्रकृतिसे परे हैं, इस कारण कोई भी प्राकृतिक पदार्थ उनको ग्रहण नहीं कर

सकता है । ज्ञानेन्द्रिय, मन, बुद्धि ये प्राकृतिक हैं, इस कारण ब्रह्मस्वरूप तक पहुंच नहीं सकते हैं । जब बुद्धि नहीं ग्रहण कर सकती, तो उनके अपरोक्षानुभूति करनेकी कोई विशेष शैली निर्धारित नहीं हो सकती है । और न गुरु ऐसी शैलीको निर्धारित करके उपदेश ही दे सकते हैं । इस कारण स्वरूपकी उपलब्धिके लिये वेदने नाना प्रकारकी शैली अवलम्बन की है ॥ ३—४ ॥

यद्वाचानभ्युदितं येन वागभ्युद्यते ।
तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते ॥५॥

यत् (ब्रह्म) वाचा अनभ्युदितं (अप्रकाशितं) येन (ब्रह्मणा) वाक् अभ्युद्यते (प्रकाश्यते, प्रयुज्यते) तत एव ब्रह्म त्वं विद्धि (विजानीहि) । यत् इदं (उपाधिभेदसम्बद्धं शरीरशरीर्य्यादिरूपं वस्तु) उपासते, इदं न ॥ ५ ॥

मन्त्रार्थ ।

जो वाक्य द्वारा प्रकाशित नहीं होते, किन्तु वाक्य जिनकी सहायतासे उच्चारित होता है, तुम उन्हींको ब्रह्म करके जानो । लोग जिसकी "इदं" रूपसे उपासना करते हैं, वह वास्तवमें ब्रह्म नहीं है ॥ ५ ॥

शांकरभाष्यम् ।

"अन्यदेव तद् विदितादथो अविदितादधि" इत्यनेन वाक्येन आत्मा ब्रह्मेति प्रतिपादिते श्रोतुराशंका जाता—तत् कथं नु आत्मा ब्रह्म ? आत्मा

हि नामाधिकृतः कर्मण्युपासने च संसारी कर्मोपासनं वा साधनमनुष्ठाय ब्रह्मादिदेवान् स्वर्गं वा प्राप्तुमिच्छति; तत् तस्मादन्य उपास्यो विष्णुरीश्वर इन्द्रश्च प्राणो वा ब्रह्म भवितुमर्हति, न त्वात्मा; लोकप्रत्ययविरोधात्। यथा अन्ये तार्किका ईश्वरादन्य आत्मा इत्याचक्षते; तथा कर्मिणः "अमुं यजामुं यज" इति अन्या एव देवता उपासते। तस्माद् युक्तं यद् विदितं उपास्यं, तद् ब्रह्म भवेत्, ततोऽन्य उपासक इति। तामेनामाशंकां शिष्यलिङ्गेन उपलक्ष्य तद् वाक्याद् वा आह—मैवं शङ्किष्ठाः यत् चैतन्य-मात्रसत्ताकं वाचावागिति जिह्वामूलादिषु अष्टसु स्थानेषु विषक्तं आग्नेयं वर्णानां अभिव्यंजकं करणं, वर्णाश्च अर्थसङ्केतपरिच्छिन्ना एतावन्त एवं क्रमप्रयुक्ता इत्येवं तदभिव्यज्य. शब्द. पदं वागित्युच्यते। "अकारो वै सर्वा वाक्, सैषा स्पर्शान्तःस्थोष्मभिर्व्यंज्यमाना बह्वी नानारूपा भवति" इति श्रुतेः। मितममितं स्वरः सत्यानृते एव विकारो यस्याः तया वाचा पदत्वेन परिच्छिन्नया करणगुणवत्या अनभ्युदितं अप्रकाशितं अनभ्युक्तं; येन ब्रह्मणा विवक्षितेऽर्थे सकरणा वाक् अभ्युद्यते—चैतन्यज्योतिषा प्रकाश्यते प्रयुज्यते इत्येतत्। "यद्वाचो ह वाक् इत्युक्तम्" "वदन् वाक्" "यो वाचमन्तरो यमयति" इत्यादि च वाजसनेयके। "या वाक्पुरुषेषु सा घोषेषु प्रतिष्ठिता, कश्चित् तां वेद ब्राह्मणः" इति प्रश्नमुत्पाद्य प्रति वचनमुक्तम्—"सा वाग् यया स्वप्ने भाषते" इति। सा हि वक्तुर्वक्ति नित्या वाक् चैतन्तज्योतिः स्वरूपा। "नहि वक्तुर्वक्तेर्विपरिलोपो विद्यते" इति श्रुतेः। तदेव आत्मस्वरूपं ब्रह्म निरतिशयं भूमाख्यं बृहत्त्वात् ब्रह्मेति विद्धि विजानीहि त्वम्। यैर्वागाद्युपाधिभिः 'वाचो ह वाक्' "चक्षुषश्चक्षुः" "श्रोत्रस्य श्रोत्रं, मनसो मनः" 'कर्त्ता, भोक्ता, विज्ञाता, नियन्ता,

प्रकाशिनाः" "विज्ञानमानन्दं ब्रह्म" इत्येवमादयः संव्यवहार्यं असंव्यवहार्ये निर्विशेषे परे साम्ये ब्रह्मणि प्रवर्त्तन्ते, तान् व्युदस्य आत्मानमेव निर्विशेषं ब्रह्म विद्धीति एव शब्दार्थः । नेदं ब्रह्म, यदिदं इत्युपाधिभेदविशिष्टं अनात्मेश्वरादि उपासेत ध्यायन्ति । तदेव ब्रह्म त्वं विद्धीत्युक्तेऽपि नेदं ब्रह्म इति अनात्मनोऽब्रह्मत्वं पुनरुच्यते नियमार्थमन्यब्रह्मबुद्धिपरिसंख्यानार्थं वा ॥ ५ ॥

भाष्यानुवाद ।

"अन्यदेव तद् विदितादथो" इत्यादि श्रुतिसे प्रतिपन्न हुआ कि आत्मा और ब्रह्म एक ही पदार्थ है । इस उपदेशके श्रवण करनेसे श्रोताको यह आशंका होती है कि आत्मा और ब्रह्म एक कैसे हो सकता है ? क्योंकि कर्म और उपासनाका अधिकारी संसारी पुरुष ही आत्माशब्दवाच्य होता है । वह संसारी आत्मा विहितकर्म और उपासनारूप साधनका अनुष्ठान करके ब्रह्मादि देवत्व अथवा स्वर्गादि भोगलोक प्राप्त करनेकी इच्छा करता है । इस प्रकार लोकव्यवहार देखनेसे यही निश्चय होता है कि उपासकसे पूर्णतया पृथक् विष्णु, शिव, इन्द्र, अथवा प्राण ये ही उपास्य ब्रह्म होसकते हैं आत्मा कदापि उपास्य ब्रह्म नहीं होसकता है । ऐसा माननेसे लोक व्यवहार विरुद्ध होता है। अन्य तार्किक कहा करते हैं कि आत्मा ईश्वरसे पृथक् है और कर्ममीमांसक लोग "अमुक देवताकी आराधना करो" "अमुक देवताकी आराधना करो" इस प्रकारके उपदेश द्वारा आत्मातिरिक्त देवताकी ही आराधना

किया करते हैं। अतएव जो विदित है, वही उपास्य है। और वही उपास्य ब्रह्मस्वरूप है, अविदित उपास्य नहीं होता है, और वह ब्रह्म भी नहीं हो सकता है। अतएव उपास्य एवं उपासक परस्पर पृथक् है, शिष्यरूपसे ही हो अथवा वाक्य प्रयोगसे ही हो, ऐसी आशंकाको लक्ष्य करके ही श्रुति स्वयं कहती है कि ऐसी आशंका मत करो।

जो नित्य चैतन्यस्वरूप है, वह वागेन्द्रिय और उसके अभिव्यंजक शब्द द्वारा अभिव्यक्त या प्रकाशित नहीं होता है। यहां 'वाक्' से जिह्वा मूलादि अष्टस्थानोंसे सम्बन्धयुक्त वर्णाभिव्यञ्जक आग्नेय इन्द्रिय और उससे उत्पन्न वर्णसमूह दोनों ही समझना चाहिये। इस वर्ण अर्थमें भी अर्थ बोधका संकेत तथा विशेष क्रम और संख्यायुक्त शब्दमय पद समझना चाहिये। श्रुतिने कहा है—"अकार ही सब वाक्योंका मूलस्वरूप है, वही अकाररूपा वाक् स्पर्श, अन्तःस्थ और उष्मवर्णरूपसे विभिन्न प्रकार और बहुरूप धारण करती है" मित अमित स्वर, सत्य, अनृत ये सब जिसका विकार है, एवं वागिन्द्रिय जिसका करण या कार्य्यसाधन है, पुरुषनिष्ठ वही वाक् शक्ति यहां 'वाक्' शब्दसे अभिहित हुई है। वाक उसको प्रकाशित नहीं कर सकती, किन्तु उसी नित्य, चैतन्य ज्योतिस्वरूप ब्रह्मकी प्रेरणासे, वाक् उच्चारित होती है अर्थात् प्रकाशित होती है। वाजसनेयकश्रुतिमें कहा है, 'जो वाक्का भी वाक् स्वरूप है" शब्द उसके द्वारा सम्पादित होता है इस

कारण शब्दसे कथित होता है" इत्यादि। "पुरुषगत जो वाक्-शक्ति है, वह घोष (वर्ण) में भी विद्यमान है, कौन ब्राह्मण उसको जान सकता है?" ऐसा प्रश्न उठाकर उसके उत्तरमें कहा है कि "जिसके प्रभावसे स्वप्नमें भी बात होती है, वास्तवमें वह वाक् है।" वक्ताकी यह उक्ति (वचन) ही नित्य चैतन्य रूपा वाक् है। "वक्ताकी वक्ति (वचन) कभी भी विलुप्त नहीं होती" यह श्रुति भी इस विषयका प्रमाण है। तुम उन्हींको आत्मस्वरूप, निरतिशय और बृहत् होनेसे ब्रह्म जानो। निष्कर्ष यह है कि, जो सारे लौकिक व्यवहारोंसे अतीत निर्विशेष है, उस परब्रह्ममें भी जिन उपाधियोंके द्वारा वाक्यका वाक्य, चक्षुका चक्षु, श्रोत्रका श्रोत्र, मनका मन तथा कर्त्ता, भोक्ता, विज्ञाता, नियन्ता, प्रकाशिता विज्ञान और आनन्दरूप आदि व्यवहार आरोपित हुआ करता है, उन सब उपाधियोंको हटाकर वास्तविक आत्माको ही निर्विशेष ब्रह्म करके जानो। 'इदं' रूपसे अर्थात् विशेष विशेष उपाधि विशिष्टरूपसे जो अनात्मा ईश्वरका ध्यान किया जाता है, वह वास्तवमें ब्रह्म नहीं है।

तुम उन्हींको ब्रह्म करके जानो, ऐसा कह कर भी सिद्धान्त-की दृढ़ताके लिये "नेदं ब्रह्म" (यह ब्रह्म नहीं है) कह कर अनात्म वस्तुका अब्रह्मत्व प्रतिपादित हुआ है। या आत्मामें ही ब्रह्मबुद्धि तथा आत्मभिन्न वस्तुमें ब्रह्मबुद्धि निवृत्तिके अर्थ इस प्रकारकी पुनरुक्ति की गई है॥ ५॥

यन्मनसा न मनुते येनाहुर्मनो मतम् ।
तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते ॥ ६ ॥

मनसा यत् न मनुते (संकल्पयति) येन मनः मतम् (विषयी कृतम्) आहुः (कथयन्ति) तत् एव इत्यादि पूर्ववत् ॥ ६ ॥

जिसकी मन द्वारा चिन्ता नहीं की जाती है एवं ब्रह्मविद्गण मनको भी जिसका मन अर्थात् अधीन कहते हैं, तुम उन्हींको ब्रह्म करके जानो, जिसकी 'इदं' रूपसे उपासना की जाती है, वह ब्रह्म नहीं है ॥ ६ ॥

शांकरभाष्यम् ।

यन्मनसा न मनुते । मन इत्यन्तःकरणं बुद्धिमनसोरेकत्वेन गृह्यते । मनुते अनेन इति मनः सर्वकरणसाधारणम्, सर्वविषयव्यापकत्वात् । कामः संकल्पो विचिकित्सा श्रद्धाऽश्रद्धा धृतिरधृतिर्ह्रीर्धीर्भीरित्येतत् सर्वं मन एव" इति श्रुतेः । कामादिवृत्तिमत् मनः, तेन मनसा यच्चैतन्यज्योतिर्मनसोऽवभासकं न मनुते—न संकल्पयति नापि निश्चिनोति लोकः मनसोऽवभासकत्वेन नियन्तृत्वात् । सर्वविषयं प्रति प्रत्यगेवेति स्वात्मनि न प्रवर्त्ततेऽन्तःकरणम् । अन्तःस्थेन हि चैतन्यज्योतिषा अवभासितस्य मनसो मननसामर्थ्यम्, तेन सवृत्तिकं मनो येन ब्रह्मणा मतं विषयीकृतम् व्याप्तमाहुः कथयन्ति ब्रह्मविदः । तस्मात् तदेव मनस आत्मानं प्रत्यक्चेतयितारं ब्रह्म विद्धि । नेदमित्यादि पूर्ववत् ॥ ६ ॥

भाष्यानुवाद ।

यहां बुद्धि और मनको एकत्वरूपसे निर्देश करनेसे 'मनः' शब्दका अर्थ अन्तःकरण समझना उचित है । जिसके द्वारा

मनन किया जाता है, उसका नाम 'मन' है। इस कारण मन शब्द करण अर्थात् सब इन्द्रियादियोंका वाचक है "कामना, संकल्प, (मानसिकचिन्ता) विचिकित्सा (संशय श्रद्धा, अश्रद्धा, धृति, अधृति (असहिष्णुता) ह्री (लज्जा धीः (बुद्धि) भी (भय) ये सभी मन अर्थात् मनकी वृत्तिय हैं।" इस श्रुतिसे भी यही सिद्ध होता है कि कामनादि वृत्ति विशिष्ट अन्तःकरण ही मन शब्द वाच्य है। मनुष्य कामादि वृत्ति विशिष्ट मनके द्वारा मनका भी प्रकाशक चैतन्यज्योतिक न मनन कर सकता है, न संकल्प कर सकता है, न निश्चि रूपसे धारण ही कर सकता है। क्योंकि वही ब्रह्मज्योति मनका प्रकाशक और संचालक या नियन्ता होनेसे सबके भीतर आत्मारूपसे परिव्याप्त है। इस कारण अन्तःकरण भ स्वस्वरूप आत्मामें प्रवृत्त नहीं होता है अर्थात् उसके विषय संकल्प, मनन आदि करनेमें समर्थ नहीं होता है। विशेषत अन्तरस्थ चैतन्यज्योतिके अवभास (प्रकाश) से ही मनक मनन सामर्थ्य उत्पन्न होता है, इस कारण ब्रह्मविद्गण वृत्ति सम्पन्न मनको जिसके मत—अर्थात् विषयीकृत करके निर्दे करते हैं, मनके भी चैतन्य प्रदाता उस आत्माको ही ब्र करके जानो। "नेदं" इत्यादिका अर्थ पहले ही कहा गय है ॥ ६ ॥

यच्चक्षुषा न पश्यति येन चक्षूंषि पश्यति।
तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते ॥ ७ ॥

चक्षुषा यत न पश्यति (विषयीकरोति), येन (चैतन्यात्मज्योतिषा) चक्षूंषि पश्यति, तत एव इत्यादि पूर्ववत् ॥ ७ ॥

मनुष्य जिसको चक्षुद्वारा नहीं देख सकता है किन्तु जिसके द्वारा चक्षुमें दर्शन शक्ति आती है, तुम उसीको ब्रह्म करके जानो, आगे पहलेके समान ही है ॥ ७॥

शांकरभाष्यम् ।

यच्चक्षुषा न पश्यति, न विषयीकरोति; अन्तःकरणवृत्तिसंयुक्तेन लोकः येन चक्षूंषि अन्तःकरणवृत्तिभेदभिन्नाः चक्षुवृत्तीः पश्यति—चैतन्यात्मज्योतिषा विषयीकरोति व्याप्नोति । तदेवेदमित्यादि पूर्ववत् ॥७॥

भाष्यानुवाद ।

मनुष्य अन्तःकरण संयुक्त चक्षुद्वारा जिसका दर्शन नहीं कर सकता है, अर्थात् जो चक्षुका विषय नही है किन्तु भिन्न भिन्न प्रकारके अन्तःकरणकी वृत्तियोंके अनुसार पृथक् पृथक् चक्षुवृत्ति जिनकी सहायतासे दर्शन करनेमें समर्थ होती है अर्थात् मनुष्य जिस आत्मचैतन्यज्योतिके द्वारा चक्षुकी सब वृत्तियां अनुभव कर सकता है, आगेका अंश पूर्ववत् है ॥ ७ ॥

यच्छ्रोत्रेण न शृणोति येन श्रोत्रमिदं श्रुतम् ।
तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते ॥ ८ ॥

श्रोत्रेण (कर्णेन) यत् न शृणोति, येन च इदं श्रोत्रं श्रुतं (विषयीकृतम्) तत् एव इत्यादि पूर्ववत् ॥ ८ ॥

लोग जिसको कर्णद्वारा श्रवण नहीं कर सकते हैं, यह श्रोत्र जिसके द्वारा श्रवण कार्य्यमें प्रवृत्त होता है, बाकी पहलेके समान है ॥ ८ ॥

शाङ्करभाष्यम् ।

यत् श्रोत्रेण न शृणोति दिग्देवताधिष्ठितेन आकाशकार्य्येण मनोवृत्तिसंयुक्तेन न विषयीकरोति लोकः, येन श्रोत्रमिदं श्रुतम्, यत् प्रसिद्धं चैतन्यात्मज्योतिषा विषयीकृतम्, तदेवेदमित्यादि पूर्ववत् ॥ ८ ॥

भाष्यानुवाद ।

मनुष्य दिक् देवता द्वारा परिचालित, आकाशसे उत्पन्न और मनोवृत्तिविशिष्ट श्रवणेन्द्रियके द्वारा जिसको सुन नहीं सकता है अर्थात् कर्णका विषयीभूत नहीं कर सकता है, किन्तु यह विख्यात श्रवणेन्द्रिय जिस आत्मचैतन्य ज्योतिके द्वारा श्रुत अर्थात् विषयीकृत होता है, उसीको ब्रह्म करके जानो, बाकी पहलेके समान है ॥ ८ ॥

यत् प्राणेन न प्राणिति येन प्राणः प्रणीयते ।
तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते ॥ ९ ॥

इति प्रथमः खण्डः समाप्तः ।

प्राणेन (घ्राणेन) यत् न प्राणिति (न विषयीकरोति), येन प्राणः प्रणीयते (प्रेर्य्यते) तत् एव इत्यादि पूर्ववत् ॥ ९ ॥

प्राण द्वारा (घ्राणेन्द्रिय द्वारा) जिसको ग्रहण नहीं किया जा सकता है, किन्तु जिसके रहनेसे प्राण भी अपने विषयमें

प्रवृत्त होता है, उसको ब्रह्म करके जानो, बाकी अंश पूर्ववत् है ॥ ६ ॥

शांकर-भाष्यम् ।

यत् प्राणेन घ्राणेन पार्थिवेन नासिकापुटान्तरवस्थितेन अन्तःकरण-प्राणवृत्तिभ्यां सहितेन यत् न प्राणिति गन्धवत् न विषयीकरोति; येन चैतन्यात्मज्योतिषा अवभास्यत्वेन स्वविषयं प्रति प्राणः प्रणीयते तदेवे-त्यादिसर्वं समानम् ॥ ९ ॥

भाष्यानुवाद ।

नासिकापुटमें अवस्थित और पार्थिव (पृथिवीसे उत्पन्न) प्राण अर्थात् घ्राणेन्द्रिय, अन्तःकरणवृत्ति एवं प्राणवृत्तिसे संयुक्त होकर भी गन्धके समान जिसको आघ्राण करने (सूंघने) में समर्थ नहीं हो सकता, किन्तु प्राण जिस आत्म-चैतन्यज्योति द्वारा प्रकाशित (चेतन) होकर अपने विषयमें प्रवृत्त होता है, उसीको - इत्यादि पहलेके समान है ॥ ६ ॥

इति केनोपनिषद्का प्रथम खण्ड शांकरभाष्य
तथा भाष्यानुवाद सहित समाप्त ।

टीका ।

ज्ञानेन्द्रियोंमें अनुभवशक्तिके प्राधान्यसे दर्शनेन्द्रिय और श्रवणेन्द्रिय ये दोनों बड़े प्रबल हैं । शक्तिके विचारसे प्राण प्रबल है और मन सबका राजा होनेसे उसकी प्रधानता स्वतः-

सिद्ध है। और गुरु-उपदेश लक्ष्य करानेमें वाक् प्रधान सहायक है। इन सब विचारोंसे पूर्व मन्त्रोंमें वाक् तदनन्तर मन, तदनन्तर चक्षु, तदनन्तर श्रोत्र और तदनन्तर प्राण, सबको दृश्य बनाकर द्रष्टाका लक्ष्य कराया गया है। अतः इन मन्त्रोंके द्वारा गुरुलक्ष्यगम्य एक तीसरी शैली प्रकाशित की गई है। "इदं" शब्दसे जानने योग्य अर्थात् "यह है" ऐसा जानने योग्य जो कुछ प्रपंच है, वह सब प्राकृतिक है और दृश्य है; द्रष्टा इन सबोंसे परे है। उसीकी अपरोक्षानुभूति होनेसे स्वस्वरूपकी उपलब्धि होती है॥ ५-६-७-८-९ ॥

इति केनोपनिषद्के प्रथमखण्डकी उपनिषत्-
सुबोधिनी टीका समाप्त ।

द्वितीयः खण्डः ।

———:*:———

यदि मन्यसे सुवेदेति दभ्रमेवापि
नूनं त्वं वेत्थ ब्रह्मणो रूपम् ।
यदस्य त्वं यदस्य देवेष्वथ नु
मीमांस्यमेव ते मन्ये विदितम् ॥ १० ॥ १ ॥

यदि मन्यसे सुवेद इति, नूनं त्वं ब्रह्मणो रूपम् (स्वरूपं), दभ्रं (अल्पं) एव अपि वेत्थ (जानीषे) त्वं अस्य (ब्रह्मणः) यत् (रूपं) [वेत्थ तत् अल्पं एव वेत्थ] नु (अथवा) देवेषु अस्य (ब्रह्मणः) यत् (रूपं) [वेत्थ तत् अपि अल्पमेव वेत्थ] [यत् एवं तस्मात्] ते (तव) विदितं अथ (अत्रापि) मीमांस्यम् (विचारणीयम्) एव मन्ये (जानामि) ॥ १० ॥ १ ॥

मन्त्रार्थ ।

तुमने यदि समझा हो कि, मैंने ब्रह्मस्वरूपको अच्छी तरह जान लिया है, तो निश्चय समझना कि, यह जानना अल्प अर्थात् असम्पूर्ण है । क्योंकि, ब्रह्मका जो रूप है अथवा अधिदैवस्वरूप है, दोनो ही अल्प है । इसलिये मैं (आचार्य्य) समझता हूँ कि तुमने जिस ब्रह्मस्वरूपको जाना है, वह अब भी विचार करने योग्य है । अर्थात् अब भी समझना बाकी है ॥ १० ॥ १ ॥

शांकरभाष्यम् ।

एवं हेयोपादेय-विपरीतः त्वं आत्मा ब्रह्मेति प्रत्यायितः शिष्यः "अहमेव ब्रह्म" इति सुष्ठु वेद 'अहं' इति मागृह्णीयादित्याशंक्य आचार्य्यः शिष्यबुद्धिविचालनार्थं यदीत्याह । ननु इष्टैव सुवेदाहमिति निश्चिता प्रतिपत्तिः ? सत्यम्, इष्टा निश्चिता प्रतिपत्तिः न हि सुवेदाहमिति । यद्धि वेद्यं वस्तु विषयीभवति, तत् सुष्ठु वेदितुम् शक्यम्, दाह्यमिव दग्धुं अग्नेर्दग्धुः, न तु अग्नेः स्वरूपमेव । सर्वस्य हि वेदितुः स्वात्मा ब्रह्मेति सर्ववेदान्तानां सुनिश्चितोऽर्थः । इह च तदेव प्रतिपादितं प्रश्नप्रतिवचनोक्त्या "श्रोत्रस्य श्रोत्रं" इत्याद्यया । "यद् वाचानभ्युदितम्" इति च विशेषतोऽवधारितम् । ब्रह्मवित्सम्प्रदायनिश्चयश्चोक्तः—"अन्यदेव तद् विदितादथो, अविदितादधि" इति उपन्यस्तम् उपसंहरिष्यति च—"अविज्ञातं विजानतां विज्ञातमविजानताम्" इति । तस्माद् युक्तमेव शिष्यस्य सुवेदेति बुद्धिं निराकर्त्तुम् । न हि वेदिता वेदितुर्वेदितुं शक्यः अग्निर्दग्धुरिव दग्धुमग्नेः । न चान्यो वेदिता ब्रह्मणोऽस्ति, यस्य वेद्यमन्यत् स्याद् ब्रह्म । "नान्यदतोऽस्ति विज्ञातृ" इत्यन्यो विज्ञाता प्रतिषिध्यते । तस्मात् सुष्ठु वेदाहं ब्रह्मेति प्रतिपत्तिर्मिथ्यैव । तस्माद् युक्तमेवाह आचार्य्यो यदीत्यादि। यदि कदाचित् मन्यसे—सुवेदेति—सुष्ठु वेदाहं ब्रह्मेति । कदाचिद् यथाश्रुतं दुर्विज्ञेयमपि क्षीणदोषः सुमेधाः कश्चित् प्रतिपद्यते, कश्चिन्नेति साशंकमाह यदीत्यादि । दृष्टं च "य एषोऽक्षिणि पुरुषो दृश्यते, एष आत्मेति होवाच, एतदमृतमभयमेतद् ब्रह्मः" इत्युक्ते प्राजापत्यः पण्डितोऽपि असुरराड् विरोचनः स्वभावदोषवशात् अनुपपद्यमानमपि विपरीतमर्थं शरीरमात्मेति प्रतिपन्नः । तथेन्द्रो देवराट् सकृत् द्विस्त्रिरुक्तं चाप्रतिपद्यमानः स्वभावदोष·

क्षयमपेक्ष्य चतुर्थे पर्याये प्रथमोक्तमेव ब्रह्म प्रतिपन्नवान् । लोकेऽपि एकस्माद् गुरोः श्रृण्वतां कश्चित् यथावत् प्रतिपद्यते, कश्चिद्यथावत्, कश्चित् विपरीतं, कश्चित् न प्रतिपद्यते, किमु वक्तव्यमतीन्द्रियमात्मतत्त्वम् ।

अत्र हि विप्रतिपन्नाः सदसद्वादिनस्तार्किकाः सर्वे । तस्मादविदितं ब्रह्मेति सुनिश्चितोक्तमपि विषमप्रतिपत्तित्वात् यदि मन्यस इत्यादि साशङ्कं वचनं युक्तमेवाह आचार्य्यस्य ।

दभ्रम् अल्पमेवापि नूनं त्वं वेत्थ जानीषे ब्रह्मणो रूपम् । किमनेकानि ब्रह्मणो रूपाणि महान्त्यर्भकाणि च ? येनाह दभ्रमेवेत्यादि ? बाढ़म् । अनेकानि हि नामरूपोपाधिकृतानि ब्रह्मणो रूपाणि, न स्वतः । स्वतस्तु "अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययं तथारसं नित्यमगन्धवच्च यत्" इति शब्दादिभिः सह रूपाणि प्रतिषिध्यन्ते । ननु येनैव धर्मेण यत् रूप्यते, तदेव तस्य स्वरूपम्, इति ब्रह्मणोऽपि येन विशेषेण निरूपणम्, तदेव तस्य स्वरूपं स्यात्, अत उच्यते,–चैतन्यम् पृथिव्यादीनामन्यतमस्य सर्वेषां विपरिणतानां वा धर्मो न भवति । तथा श्रोत्रादीनां अन्तःकरणस्य च धर्मो न भवतीति । ब्रह्मणो रूपमिति ब्रह्म रूप्यते चैतन्येन । तथा चोक्तम्–"विज्ञानमानन्दं ब्रह्म" "विज्ञानघन एव," "सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म," "प्रज्ञानं ब्रह्म" इति च ब्रह्मणो रूपं निर्दिष्टं श्रुतिषु । सत्यमेवम्, तथापि तदन्तःकरण–देहेन्द्रियोपाधिद्वारेणैव विज्ञानादिशब्दैर्निर्दिश्यते तदनुकारित्वाद्देहादि–वृद्धि–संकोचच्छेदादिषु नाशेषु च, न स्वतः । स्वतस्तु–"अविज्ञातं विजानतां, विज्ञातमविजानताम्" इति स्थितं भविष्यति । यदस्य ब्रह्मणो रूपमिति पूर्वेण सम्बन्धः । न केवलमध्यात्मोपाधिपरिच्छिन्नस्य अस्य ब्रह्मणो रूपं त्वं अल्पं वेत्थ; यदप्यधिदैवतोपाधि

परिच्छिन्नस्य अस्य ब्रह्मणो रूपं देवेषु वेत्थ त्वं, तदपि नूनं दभ्रमेव वेत्थ इति मन्येऽहम् । यदध्यात्मम्, यदधिदैवम्, तदपि च देवेषूपाधिपरिच्छिन्नत्वाद् दभ्रत्वात् न निवर्त्तते । यत्तु विध्वस्तसर्वोपाधिविशेषं शान्तमनन्तमेकमद्वैतं भूमाख्यं नित्यं ब्रह्म, न तत् सुवेद्यमित्यभिप्रायः । यत एवं, अथ नु—तस्मात् मन्ये अद्यापि मीमांस्यं विचार्य्यमेव ते तव ब्रह्म । एवमाचार्य्योक्तः शिष्य एकान्ते उपविष्टः समाहितः सन् यथोक्तमाचार्य्येण आगममर्थतो विचार्य्य, तर्कतश्च निर्धार्य्य, स्वानुभवं कृत्वा, आचार्य्यसकाशमुपगम्योवाच-मन्येऽहमथेदानीं विदितं ब्रह्मेति ॥ १० ॥ १ ॥

भाष्यानुवाद ।

आचार्य्यने पहले ही उपदेश दिया था कि "हेय [त्याग करने योग्य] और उपादेय [ग्रहण करने योग्य] इन दोनों भावोंसे रहित तुम ही अर्थात् तुम्हारा आत्मा ही ब्रह्मस्वरुप है" शिष्यने इस उपदेशको हृदयंगम करके कहा कि, मैं ही ब्रह्म हूँ, यह मैंने अच्छी तरह समझ लिया है । पुनः "अहं" पदसे अपनेको ही ब्रह्म न समझ लिया गया हो, ऐसी आशंका करके आचार्य्यने शिष्य की बुद्धिको भ्रमरहित करनेके लिये "यदि समझा हो" इत्यादि कहा है । जब "अहं सुवेद" [मैंने अच्छी तरह समझा है] इस प्रकारका निश्चित और असंदिग्ध ज्ञान ही अभीष्ट या प्रार्थनीय है, पुनः ऐसी आशंका क्यों ? हां, इस प्रकारका ज्ञान होना अभीष्ट अवश्य है; किन्तु 'अहं सुवेद' यह बुद्धि उस प्रकारकी निश्चित बुद्धि नहीं है । क्योंकि, अग्नि जिस प्रकार अपने जलानेयोग्य वस्तुको ही जला सकती है, अपनेको नहीं जला सकती, उसी

प्रकार जो वस्तु जानने योग्य है, अर्थात् ज्ञानका विषयीभूत है, ज्ञान उसी वस्तुको अच्छी तरह जान सकता है, अपने स्वरुपको कदापि नहीं जान सकता है। सब वेदिताओ [ज्ञातामात्र] का आत्मा ही ब्रह्मस्वरूप है, यह सब वेदान्त शास्त्रोका निश्चित सिद्धान्त है। इस उपनिषद्में भी "श्रोत्रका श्रोत्र" इत्यादि प्रश्नोंके उत्तरमें यही सिद्धान्त प्रतिपन्न हुआ है। "जो वाक्यके विषय नहीं हैं" इत्यादि वाक्योसे यही विशेषरूपसे अवधारित हुआ है। इस विषयमें ब्रह्मवित् सम्प्रदायका जो अनुभव है, वह भी "जो विदित और अविदितसे पृथक है" इत्यादि वाक्यसे सिद्ध किया गया है। तदनन्तर "विशेषज्ञोके लिये वे अज्ञात और अज्ञोंके लिये वे विशेष रूपसे ज्ञात हैं" इत्यादि वाक्योसे इसीका उपसंहार हुआ है। इस कारण शिष्यकी इस प्रकारकी सुवेदन-बुद्धिका अर्थात् मैंने निश्चितरूपसे जान लिया इस प्रकार बुद्धिका निराकरण करना युक्तिसंगत ही है। क्योकि, अग्नि जिस प्रकार अपनेको दग्ध नहीं कर सकती है, उसी प्रकार वेदिता [जानने वाला] अपने ज्ञानका विषय नहीं हो सकता अर्थात् स्वयं अपनेको जाननेमें समर्थ नहीं हो सकता है। ब्रह्मके सिवाय और कोई वेदिता नहीं है, जो ब्रह्मको जान सके। "ब्रह्मके अतिरिक्त और कोई विज्ञाता नहीं है" यह श्रुति भी ब्रह्मके सिवाय दूसरे विज्ञाताका निषेध करती है। अतः "मैंने ब्रह्मको सम्यक् रूपसे जान लिया है" इस प्रकारकी बुद्धि अवश्य मिथ्या है। अतएव "कदापि यदि तुमने समझा हो" कि मैंने ब्रह्मको अच्छी

नरहसे जान लिया है"—आचार्य्यकी "यदि" शब्दसे उठाई हुई यह आशंका युक्तियुक्त ही है। निर्दोष और सुमेधा व्यक्तियोंमेंसे कोई कोई दुर्विज्ञेय विषयको कभीकभी समझ लेता है, कभी कभी नहीं भी समझता है; इसी कारण "यदि" आदि वाक्यसे आशंका की गई है। देखा भी गया है; प्रजापतिने कहा था, "यह जो अक्षिमे पुरुष दिखता है, यही आत्मा, अमृत, अभय और यही ब्रह्म है।"

असुरराज विरोचनने पण्डित होकर भी अपने स्वभावदोषसे प्रजापतिके इस उपदेशका यथार्थ अर्थ न ग्रहण कर विपरीत अर्थ ग्रहण किया, शरीरको ही आत्मा समझा तथा देवराज इन्द्र एकवार, दोवार तीनवारतक प्रजापतिका उपदेश नहीं समझ सके किन्तु स्वाभाविक दोषोके दूर होजानेपर प्रजापतिका प्रथमोक्त ब्रह्मतत्त्व चतुर्थवारके उपदेशसे हृदयंगम करनेमें समर्थ हुए। संसारमें भी देखा जाता है कि, एक ही गुरुके समीप बहुतसे शिष्य एक साथ, एक समय और एक ही प्रकारसे उपदेश पानेपर भी उनमेंसे कोई उस उपदेशको यथायथभावसे, कोई विकृतभावसे और कोई विपरीतभावसे ग्रहण करता है; पुनः उनमेंसे कोई कोई बिलकुल ही नहीं ग्रहण कर सकता है। साधारण व्यवहारमें जब ऐसी विलक्षणता देखी जाती है, तो अलौकिक, अतीन्द्रिय आत्मतत्त्वके विषयमें और क्या वक्तव्य हो सकता है।

सदसद्वादी तार्किक लोग इस विषयमें विप्रत्तिपन्न अर्थात्

विरुद्धमतावलम्बी हुआ करते हैं, कोई तार्किक तो कहते हैं कि, आत्मा सत्, नित्य और परलोकगामी है, पुनः कोई कहते हैं कि, आत्मा असत्, अनित्य और देहनाशके साथ ही साथ विनष्ट हो जाता है। इस प्रकारसे तार्किकोंमें परस्परविरुद्ध मतवाद प्रचलित है। अतएव "ब्रह्म विदित नहीं है" यह निश्चित होने पर भी यथार्थ विषयके समझनेमें बाधा उपस्थित होनेसे आचार्य्यका "यदि समझा हो" इत्यादि शंकाका वचन उचित ही है।

तुमने ब्रह्मके जिस रूपको समझा है, वह अवश्य दभ्र (अल्प) है, ऐसा कहनेसे यह शंका होती है, क्या, ब्रह्मके छोटे बड़े बहुतसे रूप हैं, जिससे दभ्र (अल्प) रूपकी बात कही जाती है? हां—ब्रह्मके नामरूपउपाधिमय अनेक रूप ही हैं, वे स्वाभाविक नहीं हैं। उनके स्वाभाविक रूपके विषयमें श्रुति कहती है "जो शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध वर्जित है, एवं अव्यय (निर्विकार) तथा नित्य है" इस श्रुतिद्वारा उनका यथार्थ स्वरूप रूप, रस गन्धादि धर्मसे वर्जित सिद्ध हुआ है। प्रश्न हो सकता है, कि, जिस धर्मके द्वारा जिसका निरूपण या परिचय कराया जाता है, वही उसका स्वरूप समझा जाता है, अतएव जिस विशेषधर्मके द्वारा ब्रह्म निरूपित होता है, वही उसका स्वरूप हो सकता है, इसलिये कहा जाता है, कि चैतन्य, पृथिव्यादि पंचभूतोंका या पंचभूतके विकारोंका या, उनमेंसे किसी एकका धर्म नहीं है और श्रोत्रेन्द्रिय अथवा अन्तःकरणका भी

धर्म नहीं है, किन्तु चैतन्य एक मात्र ब्रह्मका ही धर्म है। ब्रह्म इस चैतन्यके द्वारा निरूपित होता है, अतः चैतन्य ही ब्रह्मका स्वरूप क्यों नहीं समझा जाय ? कहा भी है "ब्रह्म विज्ञान और आनन्दरूप है" "केवल विज्ञानमय है" "ब्रह्म सत्य, ज्ञान और आनन्दस्वरूप है" "ब्रह्म प्रज्ञानस्वरूप है" इस प्रकार-से श्रुतियोंमें ब्रह्मका स्वरूप निर्दिष्ट हुआ है। हां, यद्यपि यह सब सत्य है, तथापि समझना चाहिये कि, देहेन्द्रियादिका छेद, भेद, ह्रास, वृद्धि, और विनाश आदि अवस्थाओंमें आत्मा अपने-को तदवस्थापन्न समझता है, इसी कारण देह-इन्द्रियादिके सहयोगसे विज्ञानादि शब्दोंके द्वारा उसका निर्देशमात्र होता है। वस्तुतः यह उसका स्वरूप नहीं है। वास्तवमें "ज्ञानियोंके निकट वह अविज्ञात और अज्ञानियोंके निकट वह विज्ञात है" इसी वाक्य द्वारा उसका यथार्थ स्वरूप निरूपित होगा। पूर्व कथित 'रूप' शब्दके साथ, 'यत् अस्य' शब्दका सम्बन्ध है। अर्थात् तुमने अध्यात्म-उपाधि-परिच्छिन्न जो ब्रह्मका स्वरूप समझा है, केवल वही दभ्र (अल्प) है, ऐसा नहीं है, किन्तु देवताओंके बीच में जो अधिदैवउपाधिपरिच्छिन्न ब्रह्मका स्वरूप तुमने जाना है, मैं समझता हूं, वह भी तुमने अल्प ही जाना है। सारांश यह है कि, ब्रह्मका जो अध्यात्म और अधिदैव रूप हैं, वे दोनों ही उपाधिपरिच्छिन्न हैं, इस कारण वे दभ्रादि उपाधि निर्मुक्त नहीं हैं। अभिप्राय यह है कि, ब्रह्म सब प्रकार-के उपाधियोंसे रहित, शान्त, अनन्त, एक, अद्वितीय, भूमाख्य

(अतिमहत्) और नित्य है, उसको सहजमें जाना नहीं जा सकता है । ब्रह्म इस प्रकार दुर्ज्ञेय है, इस कारण मैं समझता हूँ कि, उक्त ब्रह्मस्वरूप तुम्हारे लिये अभी मीमांस्य (विचार करनेयोग्य) है । शिष्यने पूर्वोक्त प्रकारसे आचार्य्य (गुरु) का उपदेश प्राप्त करके समाहितचित्त हो, निर्जन स्थानमें बैठकर आचार्य्यके उपदेशोपर विचार करके एवं तर्क द्वारा उसका अर्थ निश्चितरूपसे समझ कर उसको स्वयं अनुभव करके आचार्य्यके समीप जाकर कहा "मैं समझता हूँ कि अब मैंने ब्रह्मतत्त्वको समझा है " ॥ १० ॥ ॥ १ ॥

टीका ।

जानना बुद्धिका कार्य्य है । बुद्धि अन्तःकरणका धर्म है । अन्तःकरण देश-काल-परिच्छिन्न और प्राकृतिक है । अतः प्रकृतिसे परे, बुद्धिसे परे जो परमात्माका स्वस्वरूप है, वह बुद्धिगम्य न होनेसे मनुष्यके जानने योग्य नहीं है। मनुष्य चाहे कितना ही उन्नत ज्ञानी क्यो न हो जाय, वह अपनी देश-कालपरिच्छिन्न बुद्धिसे जानकर यदि कहेगा कि, मैं ब्रह्मको जानता हूँ, तो उसका कहना असत्य होगा और अल्पज्ञ व्यक्तिके समान समझा जायगा । इस मन्त्रमें जो दो शब्द हैं यथा "यदस्य यदस्य देवेषु वेत्थ" इसका तात्पर्य अति-रहस्यमूलक है । ब्रह्मस्वरूप निर्णय करते समय वेदने ब्रह्म-की सर्वव्यापकता सिद्ध करनेके अर्थ शून्यादि शब्दोंसे उसका प्रतिपादन किया है, जिससे अनेक समय बुद्धिभेद होता है और

अनेक नास्तिकमतावलम्बी उन शब्दोंसे भ्रममें पतित होते हैं। उन्हीं सब श्रुतियोंके सामञ्जस्यके लिये इस श्रुतिने स्वस्वरूप-विज्ञानको स्पष्ट कर दिया है और ब्रह्मके अध्यात्म एवं अधिदैव रूपका एक साथ वर्णन किया है। प्रथम शब्द अध्यात्म-स्वरूपका बोधक और दूसरा शब्द अधिदैवस्वरूपका बोधक है। स्वस्वरूपकी अपरोक्षानुभूति होते समय प्रथम श्रवण तत्-पश्चात् मनन और तत्पश्चात् निदिध्यासनकी अवस्थामें राजयोगी विपथगामी होकर शून्यमें ही फंस न जाय एवं ब्रह्म-का अधिदैवस्वरूप जानकर स्वस्वरूपकी उपलब्धिसे कृतकृत्य हो तथा दूसरी ओर ज्ञानाभिमानसे प्रमादग्रस्त न हो, इसी लिये इस मन्त्रकी प्रवृत्ति है॥ १० ॥ १ ॥

नाहं मन्ये सुवेदेति नो न वेदेति वेद च ।
यो नस्तद्वेद तद्वेद नो न वेदेति वेद च ॥ ११ ॥ २ ॥

अहं सुवेद (सुष्ठु वेद्मि) इति न मन्ये । न वेद इति च नो (न) वेद । नः (अस्माकं मध्ये) यः (जनः) तत्—ना न वेद, वेद च इति” वेद (वेत्ति) तत् (ब्रह्म) वेद ॥ ११ ॥ २ ॥

मन्त्रार्थ ।

मैं ब्रह्मको अच्छी तरह जानता हूँ ऐसा नहीं समझता हूँ, और नहीं जानता, ऐसा भी नहीं समझता, हम लोगोंमेंसे जो ‘जानता और नहीं जानता’ इस वाक्यका भाव समझते हैं, वे ही ब्रह्मको भी जानते हैं ॥ ११ ॥ २ ॥

शांकर-भाष्यम् ।

कथमिति ? शृणुत,- नाहं मन्ये सुवेदेति, नैवाहं मन्ये सुवेद ब्रह्मेति। नैव तर्हि विदितं त्वया ब्रह्म ? इत्युक्ते आह,—नो न वेदेति वेद च । वेद चेति च शब्दात् न वेद च ।

ननु विप्रतिषिद्धं,—नाहं मन्ये सुवेदेति, नो न वेदेति वेद चेति । यदि न मन्यसे—सुवेदेति, कथं मन्यसे वेद चेति ? अथ मन्यसे,—वेदैवेति, कथं न मन्यसे—सुवेदेति ? एकं वस्तु येन ज्ञायते, तेनैव तदेव वस्तु न सुविज्ञायत इति विप्रतिषिद्धं संशय-विपर्य्ययौ वर्जयित्वा । न च ब्रह्म संशयितत्वेन ज्ञेयम्, विपरीतत्वेन वेति नियन्तुं शक्यम् । संशय-विपर्य्ययौ हि सर्वत्रानर्थकत्वेनैव प्रसिद्धौ ।

एवं आचार्य्येण विचाल्यमानोऽपि शिष्यो न विचचाल । "अन्यदेव-तद्विदितादथो, अविदितादधि" इत्याचार्य्योक्तागम-सम्प्रदायबलात् उपपत्त्यनुभवबलाच्च जगर्ज्ज च—ब्रह्मविद्यायां दृढ़निश्चयतां दर्शयन्नात्मनः । कथमिति ? उच्यते,—यो यः कश्चित् नोऽस्माकं स ब्रह्मचारिणां मध्ये तत् मदुक्तं वचनं तत्त्वतो वेद, सः तद्ब्रह्म वेद । किंपुनस्तद्वचनमित्यत आह—नो न वेदेति वेद चेति । यदेव "अन्यदेव तद्विदितादथो अविदितादधि" इत्युक्तम्, तदेव वस्तु अनुमानानुभवाभ्यां संयोज्य निश्चितं वाक्यान्तरेण "नो न वेदेति वेद च" इत्यवोचदाचार्य्यबुद्धिसंवादार्थम्, मन्दबुद्धिग्रहणव्यपोहार्थञ्च । तथा च गर्जितमुपपन्नं भवति—"यो नस्तद्वेद" इति ॥ ॥ ११ ॥ २ ॥

भाष्यानुवाद ।

किस प्रकार ? कहते हैं, सुनो—मैं ब्रह्मको अच्छी तरह

जानता है ऐसा कदापि नहीं समझता । तब क्या तुम ब्रह्मको समझ नहीं सके ? गुरुदेवके इस प्रकारके प्रश्नके निराकरणके लिये शिष्य कहते हैं–मैं जो बिलकुल नहीं समझा हूं, ऐसा भी नहीं है । मन्त्रके "वेद च" इस 'च' शब्दसे "न वेद च" अर्थात् नहीं जानते, ऐसा अर्थ भी समझने योग्य है ।

अच्छा कहा, मैं समझता हूँ कि "ब्रह्मको नहीं जानता एवं जानता हूँ" यह वाक्य परस्पर विरुद्ध है । क्योंकि यदि, समझो कि ब्रह्मको नहीं जानते, पुनः जानते हो ऐसा कैसे कहते हो ? जो कोई व्यक्ति एक वस्तुको जानता है, पुनः वही उसको नहीं जानता, यह संशय और विपर्य्यय (भ्रम) के विना सिद्ध नहीं होता, ये दोनों विरुद्धभाव हैं । पुनः ब्रह्मको संशय या विपरीत भावसे ही जानना होगा, ऐसा कोई नियम नहीं हो सकता है. अधिकन्तु संशय और विपर्य्यय सर्वत्र अनर्थकारी रूपसे ही प्रसिद्ध हैं ।

इस प्रकार आचार्य्यके विचलित करनेपर भी शिष्य अपने दृढ़ निश्चयसे विचलित नहीं हुए, किन्तु आचार्य्य द्वारा कथित "वे विदितसे पृथक् और अविदितसे भी पृथक् हैं" इस साम्प्रदायिक वाक्यके अनुसार और युक्तियुक्त अनुभवके अनुसार ब्रह्मविद्यामें अपनी स्थिर धारणा दिखानेके लिये उच्चस्वरसे बोलने लगे । किस प्रकार ? कहते हैं—हम ब्रह्मचारियों (ब्रह्ममें आचरण करने वालों) मेंसे जो कोई मेरे कथित इस वचनको तत्त्वतः जानता है, वही ब्रह्मको जानता है । वह

वचन क्या है, सो "नो न वेदेति वेद च" इस पदमें वर्णित हुआ है। तात्पर्य्य यह है, कि इससे पहले "अन्यदेव तद्विदितादथो अविदितादधि" इस वाक्यमें जो भाव व्यक्त हुआ है, उसी तत्वको "नो न वेद" इत्यादि वाक्य द्वारा अनुमान और अनुभूतिकी सहायतासे प्रकाशित किया है। जिससे आचार्य्य भी निःसन्देह हो जांय और मन्दमति साधारण मनुष्यगण इस तत्वके जाननेमें असमर्थ हैं, यह भी सिद्ध हो। इस कारण "हममेंसे जो कोई जानता है" इत्यादि वाक्यमें जो अभिमान व्यक्त किया गया है, वह युक्तियुक्त ही है ॥ ११ ॥ २ ॥

टीका।

ब्रह्मस्वरूपकी उपलब्धिके अर्थ गुरुकृपाप्राप्त ब्रह्मज्ञ शिष्य ऐसा ही कह सकता है। यदि वह कहे कि मैं जानता हूँ, तो वह ठीक नहीं कहता। इसका विज्ञान पहले मन्त्रोमें प्रकाशित हो चुका है। और यदि वह कहता है कि, मैं नहीं जानता हूं, तो गुरुके उपदेशके श्रवण और मननका फल उसको प्राप्त नहीं हुआ है। क्योंकि, निदिध्यासनरूप फलसे ब्रह्मकी अपरोक्षानुभूति होती है। अतः ऐसा कहने वाला शिष्य ही गुरुकृपारूपी फलके आस्वादन द्वारा स्वस्वरूपकी उपलब्धिसे कृतकृत्य होने योग्य है ॥ ११ ॥ २ ॥

यस्यामतं तस्य मतं, मतं यस्य न वेद सः।
अविज्ञातं विजानतां, विज्ञातमविजानताम् ॥१२॥३॥

यस्य अमतं (अविज्ञातं) तस्य मतं (सम्यक् ज्ञातं) यस्य मतं (विदितं इति निश्चयः) स न वेद (न जानाति) विजानतां (सम्यक् विदितवतां समीपे) अविज्ञातं, अविजानतां (असम्यग्दर्शिनां एव) विज्ञातं (भवति) ॥ १२ ॥ ३ ॥

मन्त्रार्थ ।

जो समझता है कि ब्रह्मको नहीं जानते, वस्तुतः वही उसको जानता है और जो समझता है कि ब्रह्मको जानते हैं, वास्तवमें वह नहीं जानता है। ज्ञानिगण उसको अविज्ञात कहते हैं और अज्ञानिगण उसको विज्ञात कहते हैं ॥ १२ ॥ ३ ॥

शांकरभाष्यम् ।

शिष्याचार्य्यसम्वादात् प्रतिनिवृत्य स्वेन रूपेण श्रुतिः समस्तसंवादनिर्वृत्तमर्थमेव बोधयति—यस्यामतमित्यादिना । यस्य ब्रह्मविदः अमतं अविज्ञातम् अविदितं ब्रह्मेति मतम्—अभिप्रायः निश्चयः, तस्य मतं ज्ञातं सम्यक् ब्रह्मेत्यभिप्रायः । यस्य पुनः मतं ज्ञातं—विदितं मया ब्रह्मेति निश्चयः, न वेदैव सः, न ब्रह्म विजानाति सः । विद्वदविदुषोः यथोक्तौ पक्षौ अवधारयति अविज्ञातं विजानतामिति, अविज्ञातं अमतं अविदितमेव ब्रह्म विजानतां सम्यग्विदितवतामित्येतत् । विज्ञातं विदितं ब्रह्म अविजानतां असम्यग्दर्शिनां इन्द्रियमनोबुद्धिष्वेव आत्मदर्शिनामित्यर्थः, न तु अत्यन्तमेव अव्युत्पन्नबुद्धीनाम् । न हि तेषां "विज्ञातमस्माभिः ब्रह्मेति" मतिर्भवति । इन्द्रिय-मनोबुद्ध्युपाधिषु आत्मदर्शिनां तु ब्रह्मोपाधिविवेकानुपलम्भात् बुद्ध्याद्युपाधेश्च विज्ञातत्वात् विदितं ब्रह्मेत्युपपद्यते भ्रान्ति-

रिति, अतोऽसम्यग्दर्शनं पूर्वपक्षत्वेन उपन्यस्यते—विज्ञातमविजानता-मिति । अथवा हेत्वर्थं उत्तरार्द्धोऽविज्ञातमित्यादिः ॥ १२ ॥ ३ ॥

भाष्यानुवाद ।

अब श्रुति गुरुशिष्य-संवाद-प्रणालीको त्याग करके स्वयं ही पूर्वोक्त अर्थको समझाती है,—ब्रह्म अमत—विदित या विज्ञात नहीं हैं, ऐसा जिस ब्रह्मवित्का मत—निश्चित अभिमत है, वास्तवमें ब्रह्म उन्हींका मत अर्थात् सम्यक रूपसे ज्ञात है । अर्थात् वे ही ब्रह्मको अच्छी तरहसे जानते हैं । परन्तु ब्रह्म जिसका मत अर्थात् "ब्रह्मको मैं अच्छी तरहसे जानता हूँ" इस प्रकार जिसका निश्चय है, वह अवश्य ही ब्रह्मको नहीं जानता है । अर्थात् वह ब्रह्मको निश्चय ही नहीं समझ सका है । ज्ञानी और अज्ञानी इस प्रकार दो पक्ष हुए, अब उन्हींको लक्ष्य करके कहते हैं कि, जिन्होंने ब्रह्मको अच्छी तरहसे समझा है, उनके निकट ब्रह्म अवश्य ही अविदित है; और जो ब्रह्मको नहीं जानते हैं, उन्हींके लिये ब्रह्म विज्ञात हैं । जो लोग इन्द्रिय, मन और बुद्धि आदिको आत्मा समझते हैं, वे ही यहां "अविजानत्" (अज्ञ) शब्दसे अभिहित हुये हैं, बिलकुल ही ज्ञानहीन लोग नहीं; क्योंकि, उन लोगोंको "हम ब्रह्मको अच्छी तरह जानते हैं" ऐसी बुद्धि कदापि उत्पन्न नहीं होती है । आत्माकी उपाधि इन्द्रिय, मन और बुद्धि आदिमें जो लोग आत्मदर्शन करते हैं, वे कदापि उपाधिरहितभावसे ब्रह्मकी उपलब्धि करनेमें समर्थ नहीं हो

सकते हैं, ब्रह्मोपाधिभूत बुद्धिआदिको ही समझ सकते हैं और उसी बुद्धिके अनुसार ही ब्रह्मको विज्ञात या विदित समझते हैं। इस कारण उन लोगोंके लिये "ब्रह्म विदित है" इस प्रकार भ्रान्ति होना अवश्य ही सम्भव है। अतएव असम्यग्दर्शन उल्लेख करनेके पहले "विज्ञातमविजानताम्" इस वाक्यसे सम्यक्दर्शनका उल्लेख करना युक्तियुक्त ही हुआ है। अथवा इस मन्त्रके पूर्वार्द्धमें "यस्यामतं" आदि विषयका उल्लेख किया है, उसीके समर्थनके लिये "अविज्ञात" उत्तरार्द्ध हेतुरूपसे उपन्यस्त हुआ है, ऐसा समझना चाहिये ॥ १२ ॥ ३ ॥

टीका।

वस्तुतः आत्मज्ञानी और अज्ञानी दोनोंका पार्थक्य दिखाने एवं पहचानके लिये इस श्रुतिका पुरुषार्थ है। पहले श्रुतियोंमें जो दार्शनिक रहस्य प्रकाशित हुआ है, उससे यही प्रतिपन्न होता है, कि ब्रह्मकी अपरोक्षानुभूति करनेवाला आत्मज्ञानी महापुरुष स्वस्वरूपकी उपलब्धि करके यही कह सकता है, कि मैं सम्यक्रूपसे नहीं जानता; क्योंकि, ब्रह्मकी अनुभूति प्रकृतिसे परे और बुद्धिसे अतीत है। इसी प्रकार जिनकी अनुभूति ठीक नहीं हुई है, जो गुरुकृपा प्राप्त नहीं कर सके हैं एवं केवल वाचकज्ञानी हैं, वे ही कह सकते हैं कि, मैं ब्रह्मको जानता हूँ। सबका निष्कर्ष यह है, कि जो ज्ञानी होनेपर भी कहेगा कि मैं नहीं जानता हूँ, क्योंकि, वे वाक् मन और बुद्धिसे परे हैं, वही व्यक्ति आत्मज्ञानी हो सकता है और जो वाचकज्ञानी कहता

हो कि, मैं जानता हूँ, वह विपथगामी और आत्मज्ञानविहीन है, ऐसा समझना उचित है ॥ १२ ॥ ३ ॥

प्रतिबोधविदितं मतममृतत्वं हि विन्दते ।

आत्मना विन्दते वीर्य्यं विद्यया विन्दतेऽमृतम् ॥ १३ ॥ ४ ॥

प्रतिबोधविदितं (प्रत्येकबोधे ज्ञातं) मतं (सम्यग् दर्शनं) अमृतत्वं हि विन्दते (लभते) आत्मना वीर्य्यं (बलं) विन्दते, विद्यया (ब्रह्मविद्यया) अमृतं (मोक्षं) विन्दते ॥ १३ ॥ ४ ॥

मन्त्रार्थ ।

प्रत्येक ज्ञानमें ब्रह्मस्वरूप अनुभव करनेसे अमृतत्व लाभ होता है । आत्माके द्वारा वीर्य्य (बल) प्राप्त होता है, और विद्याके द्वारा मोक्ष प्राप्त होता है ॥ १३ ॥ ४ ॥

शांकर-भाष्यम् ।

"अविज्ञातं विजानता" इत्यवधृतम् । यदि ब्रह्म अत्यन्तमेव अविज्ञातं लौकिकानां ब्रह्मविदां चाविशेषः प्राप्तः । "अविज्ञातं-विजानता" इति च परस्परविरुद्धम् । कथं तु तत् ब्रह्म सम्यग्विदितं भवतीत्येवमर्थमाह—प्रतिबोधविदितं,—बोधं बोधं प्रति विदितम् । बोधशब्देन बौद्धाः प्रत्यया उच्यन्ते । सर्वे प्रत्यया विषयीभवन्ति यस्य, स आत्मा सर्वबोधान् प्रतिबुध्यते—सर्वप्रत्ययदर्शी चिच्छक्तिस्वरूपमात्रः प्रत्ययैरेव प्रत्ययेषु अविशिष्टतया लक्ष्यते, नान्यत् द्वारमन्तरात्मनो विज्ञानाय । अतः प्रत्ययप्रत्यगात्मतया विदितं ब्रह्म यदा, तदा तत् मतं, तत् सम्यग्दर्शनमित्यर्थः । सर्वप्रत्ययदर्शित्वे चोपजननापायवर्जित—दृक्स्वरूपता नित्यत्वं विशुद्ध-

स्वरूपत्वमात्मत्वं निर्विशेषतैकत्वं च सर्वभूतेषु सिद्धं भवेत्; लक्षणभेदाभावात् व्योम्न इव घटगिरिगुहादिषु । विदिताविदिताभ्यामन्यत् ब्रह्मेति आगमवाक्यार्थं एवं परिशुद्ध एवोपसंहृतो भवति । "दृष्टेर्द्रष्टा, श्रुतेः श्रोता, मतेर्मन्ता, विज्ञातेर्विज्ञाता" इति हि श्रुत्यन्तरम् ।

यदा पुनर्बोध-क्रियाकर्त्तेति बोधक्रियालक्षणेन तत् कर्त्तारं विजानातीति बोधलक्षणेन विदितं—प्रतिबोध-विदितमिति व्याख्यायते । यथा यो वृक्षशाखाश्चालयति, स वायुरिति, तद्वद् । तदा बोध-क्रियाशक्तिमान् आत्मा द्रष्टव्यः; न बोधस्वरूप एव । बोधस्तु जायते विनश्यति च । यदा बोधो जायते, तदा बोधक्रियया सविशेषः । यदा बोधो नश्यति, तदा नष्टबोधो द्रव्यमात्रं निर्विशेषः । तत्रैवं सति, विक्रियात्मकः सावयवोऽनित्योऽशुद्ध इत्यादयो दोषा न परिहर्त्तुं शक्यन्ते ।

यदपि काणादानां आत्ममनःसंयोगजो बोध आत्मनि समवैति, अत आत्मनि बोद्धृत्वम्, न तु विक्रियात्मक आत्मा, द्रव्यमात्रस्तु भवति, घट इव रागसमवायी । अस्मिन् पक्षेऽपि अचेतनं द्रव्यमात्रं ब्रह्मेति "विज्ञानमानन्दं ब्रह्म" "प्रज्ञानं ब्रह्म" इत्याद्याः श्रुतयो बाधिताः स्युः । आत्मनो निरवयवत्वेन प्रदेशाभावात् नित्य-संयुक्तत्वाच्च मनसः स्मृत्युत्पत्तिनियमानुपपत्तिः अपरिहार्य्या स्यात् । संसर्गधर्मित्वं चात्मनः श्रुति-स्मृति-न्यायविरुद्धं कल्पितं स्यात् । "असङ्गो न हि सज्जते" "असक्तं सर्वभृत" इति हि श्रुतिस्मृती—द्वे; न्यायश्च,—गुणवद् गुणवता संसृज्यते, नातुल्यजातीयम् । अतो निर्गुणं निर्विशेषं सर्वविलक्षणं केनचिदपि अतुल्यजातीयेन संसृज्यत इत्येतत् न्यायविरुद्धं भवेत् । तस्मात् नित्यालुप्तविज्ञानस्व-

रूप-ज्योतिरात्मा ब्रह्म, इत्ययमर्थः सर्वबोध-बोद्धृत्वे आत्मनः सिध्यति, नान्यथा। "तस्मात् प्रतिबोध-विदितं मतम्" इति यथा व्याख्यात एवार्थोऽस्माभिः।

यत् पुनः स्वसंवेद्यता प्रतिबोध-विदितमित्यस्य वाक्यस्य अर्थो वर्ण्यते। तत्र भवति—सोपाधिकत्वे आत्मनो बुद्ध्युपाधिस्वरूपत्वेन भेदं परिकल्प्य आत्मना आत्मानं वेत्तीति संव्यवहारः। "आत्मन्येवात्मानं पश्यति" "स्वयमेवात्मनात्मानं वेत्थ त्वं पुरुषोत्तम" इति। नतु निरुपाधिकस्यात्मन एकत्वे स्वसंवेद्यता परसंवेद्यता वा सम्भवति। संवेदनस्वरूपत्वात् संवेदनान्तरापेक्षा च न सम्भवति, यथा प्रकाशस्य प्रकाशान्तरापेक्षाया न सम्भवः तद्वत्। बौद्धपक्षे,—स्वसंवेद्यतायान्तु क्षणभङ्गुरत्वं निरात्मकत्वं च विज्ञानस्य स्यात्। "न हि विज्ञातुर्विज्ञातेर्विपरिलोपो विद्यतेऽविनाशित्वात्" "नित्यं विभुं सर्वगतम्" "स वा एष महानज आत्मा अजरोऽमरोऽमृतोऽभयः" इत्याद्याः श्रुतयो बाध्येरन्। यत् पुनः 'प्रतिबोध' शब्देन निर्निमित्तो बोधः प्रतिबोधो, यथा सुप्तस्येत्यर्थं परिकल्पयन्ति। सकृद्विज्ञानं प्रतिबोध इत्यपरे। निर्निमित्तः सनिमित्तः सकृद्वा असकृद्वा प्रतिबोध एव हि सः। अमृतत्वममरणभावं स्वात्मन्यवस्थानं मोक्षं हि यस्माद् विन्दते लभते यथोक्तात् प्रतिबोधात् प्रतिबोधविदितात्मकात्, तस्मात् प्रतिबोध-विदितमेव मतमित्यभिप्रायः। बोधस्य हि प्रत्यगात्मविषयत्वञ्च मतममृतत्वे हेतुः। न ह्यात्मनोऽनात्मत्वममृतत्वं भवति। आत्मत्वादात्मनोऽमृतत्वं निर्निमित्तमेव। एवं मर्त्यत्वमात्मनो यदविद्यया अनात्मत्व-प्रतिपत्तिः।

कथं पुनर्यथोक्तया आत्मविद्यया अमृतत्वं विन्दते? इत्यत आह,—

आत्मना स्वेन स्वरूपेण विन्दते लभते वीर्य्यं बलं सामर्थ्यम्। धनसहायमन्त्रौषधितपोयोगकृतं वीर्य्यं मृत्युं न शक्नोत्यभिभवितुम् अनित्यवस्तुकृतत्वात्; आत्मविद्याकृतं तु वीर्य्यमात्मनैव विन्दते, नान्येनेति, अतोऽनन्यसाधनत्वात् आत्म-विद्यावीर्य्यस्य, तदेव वीर्य्यं मृत्युं शक्नोत्यभिभवितुम्। यत एवमात्म-विद्याकृतं वीर्य्यमात्मनैव विन्दते, अतो विद्यया आत्मविषयया विन्दतेऽमृतम् अमृतत्वम्। "नायमात्मा बलहीनेन लभ्यः" इत्याथर्वणे। अतः समर्थो हेतुः—"अमृतत्वं हि विन्दते" इति॥ १२ ॥४॥

भाष्यानुवाद।

विशेषज्ञ अर्थात् जो समझते हैं कि ब्रह्मको अच्छी तरह जानते हैं, वे ब्रह्मको नहीं जानते हैं, यह पहले ही प्रतिपन्न होचुका है। अब शंका यह होती है कि, ब्रह्म यदि बिलकुल ही अविज्ञात है; अर्थात् कोई भी उसके जाननेमें समर्थ नहीं होसकता है, तो पुनः साधारण मनुष्यमें और ब्रह्मज्ञमें कुछ भी पार्थक्य नहीं रह जाता है। और "विशेषज्ञ लोगोंके लिये वह अविज्ञात है" यह वाक्य भी परस्पर विरुद्ध है अर्थात् विशेषज्ञगण यदि ब्रह्मको ही न जानें, तो उनकी विशेषता क्या रही? पुनः उस ब्रह्मको किस प्रकार सम्यक्रूपसे जाना जासकता है? इसके उत्तरमें कहते हैं कि, वह प्रतिबोधविदित होता है। 'बोध' शब्दमें बौद्ध—प्रत्यय होनेसे उससे बुद्धिवृत्तिका ज्ञान होता है, अर्थात् सब बुद्धिवृत्ति ही आत्माका विषयीभूत है या आत्मप्रकाश्य है; अतएव प्रत्येक बुद्धिवृत्तिमें ही वही आत्मा प्रकाशकरूपसे विद्यमान है; इस कारण सब बुद्धिवृत्तियोंका साक्षी और एक मात्र चैतन्य-

रूप आत्मा बुद्धिवृत्तिके साथ एकीभावसे परिज्ञात होते हैं और उक्त प्रकारका बोध ही इस परिज्ञानका एकमात्र द्वार या उपाय है। अतएव जानना चाहिये कि, जिस समय सर्वबोध के साक्षीरूपसे आत्माको समझ सके, उसी समय ही आत्माके विषयमें सम्यक्ज्ञान प्राप्त हुआ है। आत्माका सर्वबोधदर्शित्व जान लेनेसे ही इसका जो उत्पत्ति और ध्वंसराहित्य, नित्यज्ञानस्वरूपता, विशुद्धता और सर्वभूतोमें निर्विशेष एवं समान रूपसे अवस्थिति है, यह भी सिद्ध होता है। क्योकि घर और गिरिगुहादि उपाधि भेदसे आकाश पृथक् पृथक् प्रतीत होनेपर भी उन उपाधियोंके नाश होने पर स्वरूपतः एकरूप हो जाता है, उसी प्रकार उपाधिगत आत्मा भी स्वरूपतः एकरूप है। फलतः इस श्रुतिका ऐसा ही अर्थ करनेसे विशुद्ध आत्म-तत्त्व निरूपणका उपसंहार होसकता है। अन्य श्रुतिने भी उसको "दृष्टिका द्रष्टा, श्रवणका श्रोता, मनका मननकर्त्ता और विज्ञानका विज्ञाता" करके निर्देश किया है।

कोई कोई "प्रतिबोधविदितं" वाक्यका इस प्रकार अर्थ करते हैं, देखा जाता है कि, जिसके द्वारा वृक्षकी शाखा स्पन्दित या कम्पित होती है, उसीका नाम वायु है, इस प्रकार स्पन्दन-क्रिया द्वारा वायुका परिचय दिया जाता है, इस कारण जिस प्रकार स्पन्दन-क्रिया ही वायुका लक्षण होता है, उसी प्रकार आत्मा ही बोध-क्रियाका कर्ता है, सुतरां इसी बोध-क्रियारूप लक्षणके द्वारा आत्माको भी जाना जासकता है। अतएव "प्रतिबोध

विदितम्" वाक्यका अर्थ यह है कि, बोध-क्रियारूप लक्षणके द्वारा ब्रह्म जाना जाता है। इस पक्षसे यह सिद्ध होता है कि आत्माबोध-क्रिया उत्पन्न करनेमें समर्थ होने पर भी स्वयं बोध-स्वरूप नहीं है—जड़ पदार्थ है। क्योंकि उक्त बोधक्रिया जब उत्पत्ति-विनाशशील है; तब समझना चाहिये कि, जिस समय बोध-क्रिया उत्पन्न होती है, उस समय आत्मा बोध-क्रिया-विशिष्ट होकर सविशेष भावको प्राप्त होता है; और पूर्वोक्त बोधरूप विशेषधर्मके नष्ट होजाने पर पुनः निर्विशेष भावको प्राप्त हो जाता है। इस मतके अनुसार आत्मा पर जो सविकारत्व, सावयवत्व, अनित्यत्व और अविशुद्धत्व आदि दोष आरोपित होजाते हैं, उनका परिहार नहीं होसकता है।

और कणादमतावलम्बी लोग कहा करते हैं कि—आत्मा मनके साथ मिलित होता है, तब आत्मामें बोध-शक्ति उत्पन्न होती है, इसीसे आत्माका बोद्धृत्व उत्पन्न होता है, आत्मा स्वयं विकारी नहीं है। घटमें जैसे लौहित्यगुण समवेत होता है, उसी प्रकार आत्मामें बोधगुण आजाता है, किन्तु उसके द्वारा आत्मामें विकार उत्पन्न नहीं होता है। इस सिद्धान्तसे भी ब्रह्मकी अचेतनता ही प्रमाणित होती है, चेतनत्व नहीं। इससे "ब्रह्म विज्ञान एवं आनन्द स्वरूप है" इत्यादि श्रुतिवाक्य विरुद्ध पड़ता है। अधिकन्तु आत्मा जब निरवयव है, तब उसका प्रदेश अथवा अंश रहना सम्भव नहीं है। विशेषतः मनके साथ सर्वदा आत्माका सम्बन्ध रहनेसे स्मृति या स्मरण-

ज्ञानका जो एकके बाद होनेका नियम है, उस नियमकी भी रक्षा नहीं होसकती। दूसरी बात श्रुति, स्मृति एवं न्याय द्वारा आत्माके संसर्गधर्मित्व या संगित्वका जो प्रतिषेध हुआ है, इस सिद्धान्तके अनुसार आत्माको बोधविशिष्ट कहनेसे वहाँ संसर्गधर्मित्व कल्पित होता है। "आत्मा असंग है, इसलिये कहीं भी संसक्त नहीं होता" यह श्रुति एवं "उन्होंने सब जगत्को धारण कर रक्खा है, किन्तु जगत्में आसक्त नहीं हैं" यह स्मृति तथा "गुणयुक्त वस्तु गुणयुक्त अन्य वस्तुके साथ मिलती है, विजातीय वस्तु परस्पर नहीं मिल सकती" इस प्रकार युक्ति द्वारा भी सविशेष मनके साथ निर्विशेष आत्माके सम्बन्ध अथवा संसर्गकी कल्पना विरुद्ध होजाती है। अतएव आत्माको सर्वबोध-साक्षिरूपसे स्वीकार करनेसे ही उसका नित्य, निर्विकार, ज्योतिर्मय, ज्ञानस्वरूप ब्रह्मभाव सिद्ध या प्रमाणित हो सकता है, अन्यथा नहीं। इस कारण "प्रतिबोध-विदित मतं" वाक्यकी जिस प्रकार व्याख्या हमने की, वही श्रुतिका यथार्थ अभिप्राय है।

पुनः कोई कोई 'प्रतिबोध' शब्दका स्वसंवेद्यता अर्थ करते हैं, उस पक्षमें भी आत्माका सोपाधिभाव ग्रहण करके आत्माके साथ उसकी उपाधि बुद्धि आदिका प्रभेद कल्पना कर "आत्मा आत्माको जानता है" इस प्रकारका भेदव्यवहार किया जाता है। इस औपाधिक भावमें ही "आत्माके द्वारा आत्माको जानता है" "हे पुरुषोत्तम! तुम अपनेको आप ही जानते हो"

इत्यादि भेदव्यवहार युक्तियुक्त हो सकता है। किन्तु यदि उपाधिरहित एक हो तो कदापि उसकी स्वसंवेद्यता अथवा परसंवेद्यता कुछ भी सम्भव नहीं होती है, एवं संवेदन-स्वरूप आत्माका अपर संवेदन अथवा ज्ञानकी भी अपेक्षा या आवश्यकता नहीं हो सकती है। देखा जाता है कि, प्रकाश-मय दीपादि वस्तु कदापि किसी अन्य प्रकाशकी अपेक्षा नहीं करती है। और बौद्धमतके अनुसार स्वसंवेद्यता स्वीकार करने पर भी विज्ञानका क्षणभंगुरत्व और असत्यता स्वीकार करनी पड़ती है। वस्तुतः "विज्ञाताका विज्ञान कदापि विलुप्त नहीं होता, क्योंकि विज्ञान वस्तु अविनाशी है" "वह यह आत्मा महान्, जरा, मरण, जन्म और भयरहित है" इन श्रुतियोंका अर्थ भी बाधक या विरुद्ध हो जाता है; और किसी किसीने सुषुप्त व्यक्तिके बोधके समान हेतुरहित बोधको "प्रति-बोध" शब्दवाच्य कहा है। फिर कोई कोई कहते हैं कि "प्रतिबोध' शब्दका अर्थ सकृत्‌विज्ञान अर्थात् मोक्षलाभका कारणभूत ज्ञान है। जो कुछ भी हो, विज्ञान सनिमित्त हो या निमित्तरहित ही हो, एकबार हो अथवा अनेकबार ही हो, वह प्रति-बोधके सिवाय और कुछ भी नहीं है। क्योंकि, मुमुक्षुगण प्रति-बोधमें उत्पन्न आत्मानुभूतिसे अमृतत्व लाभ करते हैं, इस कारण प्रति-बोधमें आत्माका अनुभव करना ही प्रकृत विज्ञान है। तात्पर्य्य यह है कि आत्मा प्रत्येक बोध (ज्ञान) में ही परिव्याप्त हैं, और उसीके विषयका ज्ञान ही उक्त

अमृतत्वका कारण है, क्योंकि आत्माका जो अमृतत्व है, वह आत्माका ही स्वरूप है—आत्मासे पृथक् नहीं है; फलतः आत्माका अमृतत्त्व लाभ अहेतुक ही है । इस प्रकार आत्माका मर्त्यत्व (मरणशीलत्व) भी अविद्या द्वारा अनात्मलाभके सिवाय और कुछ भी नहीं है ।

प्रश्न होता है कि, आत्मविषयक विद्याके द्वारा जो अमृतत्त्व लाभ होता है, उसका क्रम क्या है? इसके उत्तरमें कहते हैं,—मुमुक्षुगण आत्मस्वरूपके परिज्ञानसे बल अर्थात् अमृतत्वलाभ करनेयोग्य सामर्थ्य प्राप्त करते हैं, परन्तु धन, सम्पत्ति, मन्त्र औषधि, तपस्या और योगके द्वारा जिस वीर्य्य (शक्ति) की प्राप्ति होती है, उससे कदापि भी मृत्यु-भय विनष्ट नहीं हो सकता है, क्योंकि ये सब सामर्थ्य अनित्य वस्तुसे प्राप्त हैं। सारांश यह है कि, अनित्य वस्तु स्वयं मृत्युभयसे रहित नहीं है, तो पुनः उससे किस प्रकार मृत्युभयका नाश हो सकता है? किन्तु आत्मज्ञान द्वारा प्राप्त सामर्थ्य साक्षात् आत्मप्रसूत है, वह किसी बाहरी वस्तुकी अपेक्षा नहीं करती है, इस कारण वह आत्म-विद्यासे उत्पन्न वीर्य्य ही मृत्यु-भय नाश करनेमें समर्थ है। अतः इस आत्म-विषयक विद्याके द्वारा ही वास्तविक अमृतत्व लाभ हो सकता है। अथर्ववेदीय उपनिषद्में भी कहा है कि,—"बलहीन (आत्मविद्याप्राप्य शक्तिसे रहित) पुरुष इस आत्माके लाभ करनेमें समर्थ नहीं हो

सकता है ।" इस कारण श्रुतिकथित "अमृतत्वं हि विन्दते" यह हेतु उपयुक्त ही है ॥ १३ ॥ ४ ॥

टीका ।

प्रत्येक ज्ञानमें ब्रह्मका स्वरूप अनुभव करनेसे मुक्तिकी प्राप्ति होती है, यह वेदान्तका सिद्धान्त है । जिस ज्ञान द्वारा इस अधिकारका द्वार उद्घाटन होता है, उसको सात्त्विक ज्ञान कहते हैं । श्रीमद्भगवद्गीतामें उसका लक्षण इस प्रकार कहा है—

सर्वभूतेषु येनैकं भावमव्ययमीक्षते ।
अविभक्तं विभक्तेषु तज्ज्ञानं विद्धि सात्त्विकम् ॥

अर्थात् जिसके द्वारा विभक्त सब भूतोंमें अविभक्त एवं अव्ययभावका दर्शन होता है, उसीको सात्त्विक ज्ञान जानो ।

उसी प्रकार श्रीविष्णुगीतामें कहा है—

आनन्दो ज्ञानमूलस्तु, ज्ञानं वै ज्ञेयमूलकम् ।
तत्त्वमूलं ज्ञेयमात्रं तत्त्वं हि ब्रह्ममूलकम् ॥
ब्रह्मज्ञानं त्वैक्यमूलमैक्यं स्यात्सर्वमूलकम् ।
ऐक्यं तद्धि सुपर्वाणः ! भावातीतं सुनिश्चितम् ॥
भावातीतमिदं सर्वं प्रकाश्ये भावमात्रकम् ।
नास्त्यत्र संशयः कोऽपि सत्यं सत्यं वदाम्यहम् ॥

अर्थात् आनन्दका मूल ज्ञान हे, ज्ञानका मूल ज्ञेय है, सब ज्ञेयका मूल तत्त्व है, तत्त्वका मूल ब्रह्म है,। ब्रह्मका मूल

ऐक्य है, और ऐक्य सबका मूल है। हे देवतागण! वही ऐक्य भावातीत है, यह निश्चित है, इसमें कोई भी सन्देह नहीं है।

अतः सात्त्विकज्ञानके द्वारा सर्वभूतोमें ऐक्यबुद्धि स्थापन करते हुए, सब वोधमें एक ही सत्य पदार्थका अनुभव करनेसे निःश्रेयसका उदय होता है। यह वेदान्तका अकाट्य सिद्धान्त है। इस अवस्थाको प्राप्त करनेके लिये ज्ञानवान् महापुरुषकी श्रेणीको दो भागमें विभक्त कर सकते हैं, एक पूर्वावस्था और एक परावस्था। पूर्वावस्थामें आत्मबलकी आवश्यकता होती है तथा परावस्थामें पराविद्याकी कृपाकी आवश्यकता होती है। ऐश्वर्य्योंकी अपेक्षा न करके केवल आत्मलक्ष्ययुक्त जो पुरुषार्थ होता है, उसीसे आत्मबलकी प्राप्ति होती है। आत्म-बलसे बलीयान् महापुरुषको किसी दशामें भी विफलताकी सम्भावना नहीं होती है। उस समय अविद्याजनित क्या लौकिक ऐश्वर्य्य अथवा सिद्धि आदि अलौकिक ऐश्वर्य्य, उसके सम्मुख सब हेय हो जाते हैं। ऐसा एकतत्त्वयुक्त अन्तःकरणवाला और आत्मलक्ष्यरखनेवाला महापुरुष सफल-काम होता है तथा परावस्थामें पराविद्यारूपिणी आत्मज्ञानजननी ब्रह्म-शक्तिकी कृपा प्राप्त करके मन्त्रोक्त "प्रतिबोधविदित" अखण्डआत्मभावभावित दशाको प्राप्तकर ज्ञानी ब्रह्मरूप ही हो जाता है॥ १३॥४॥

इह चेदवेदीदथ सत्यमस्ति,
नो चेदिहावेदीन् महती विनष्टिः।

भूतेषु भूतेषु विचित्य धीराः,
प्रेत्यास्माल्लोकादमृता भवन्ति ॥१४॥५॥

इति द्वितीयः खण्डः समाप्तः ।

इह (अस्मिन् लोके) चेत् (यदि) अवेदीत् (यथोक्तं आत्मानं विदितवान्) अथ (तदा तस्य) सत्यं (सद्भावः—परमार्थता) अस्ति- (भवति) इह चेत् नो अवेदीत्, महती विनष्टिः (विनाशः—जन्म-मरणादिप्रवाहः भवति) धीराः (धीमन्तः) भूतेषु भूतेषु (सर्वभूतेषु) विचित्य (विज्ञाय, साक्षात् अनुभूय) अस्मात् लोकात् प्रेत्य (व्यावृत्य) अमृताः भवन्ति, (ब्रह्मैव भवन्तीति भावः) ॥ १४ ॥ ५ ॥

मन्त्रार्थ ।

मनुष्य यदि इसी लोकमें ब्रह्मस्वरूप उपलब्धि कर सके तो उसको सत्यलाभ हो सकता है और यदि ब्रह्मको नहीं जानसके, तो महान् अनिष्ट होता है । ज्ञानिगण प्रत्येक भूतमें एक ब्रह्मको जानकर इस लोकसे प्रयाण करनेके अनन्तर अमृत अर्थात् ब्रह्मस्वरूपको प्राप्त करते हैं ॥ १४ ॥ ५ ॥

शांकर—भाष्यम् ।

कष्टा खलु सुर-नर-तिर्य्यक्-प्रेतादिषु संसार-दुःखबहुलेषु प्राणिनिकायेषु जन्म-जरा मरण-रोगादिसंप्राप्तिरज्ञानात्; अत इहैव चेत् मनुष्योऽधिकृतः समर्थः सन् यदि अवेदीत् आत्मानं यथोक्तलक्षणं विदितवान् यथोक्तेन प्रकारेण । अथ तदस्ति सत्यं—मनुष्यजन्मन्यस्मिन् अविनाशोऽर्थ-

वत्ता वा सद्भावो वा परमार्थता वा सत्यं विद्यते । नो चेदिहावेदीदिति । न चेदिह जीवंश्चेत् अधिकृतः अवेदीत्—न विदितवान्, तदा महती दीर्घा अनन्ता विनष्टिर्विनाशनं जन्मजरामरणादि-प्रबन्धाविच्छेद-लक्षणा संसार-गतिः । तस्मादेवं गुण-दोषौ विजानन्तो ब्राह्मणाः भूतेषु भूतेषु सर्वभूतेषु स्थावरेषु चरेषु च एकं आत्मतत्त्वं ब्रह्म विचित्य विज्ञाय साक्षात्कृत्य धीराः धीमन्तः प्रेत्य व्यावृत्य ममाहंभावलक्षणात् अविद्यारूपात् अस्मात् लोकात् उपरम्य सर्वात्मैकत्वभावं अद्वैतं आपन्नाः सन्तः अमृता भवन्ति ब्रह्मैव भवन्तीत्यर्थः। "स यो ह वै तत् परं ब्रह्म वेद, ब्रह्मैव भवति" इति श्रुतेः॥१४॥५॥

भाष्यानुवाद ।

इस संसारमें जीवगण अज्ञानवशात् देवता, मनुष्य, पशु, पक्षी, और प्रेत आदि दुःखपूर्ण देह धारण करते हुए कष्टकर जन्म, जरा, मरण और रोगादि अवस्थाओंको प्राप्त किया करते हैं। इस कारण, अधिकारी मनुष्य यदि शक्तिमान् होकर पूर्वोक्त आत्माको उक्त प्रकारसे यथार्थरूपसे जान सके, तो इस मनुष्यजन्ममें ही वह सत्य लाभ कर सकता है। यहां "सत्य" का अर्थ—अविनाश (मृत्युका अतिक्रमण), अथवा अर्थवत्ता, या सद्भाव (यथार्थसत्यता), अथवा परमार्थता समझना चाहिये। और मनुष्य अधिकार प्राप्त करके भी जीवित अवस्थामें [इसी शरीरसे] आत्माको न जान सके, तो वह बहुत दीर्घकालव्यापी विनाश, अर्थात् जन्म, जरा, मरणादि प्रवाहमय संसारको प्राप्त करता रहता है। इसी कारणसे ही उक्त प्रकारके गुण और दोषके जाननेवाले ब्रह्मनिष्ठ बुद्धिमान्गण

सर्वभूतोंमें एकमात्र ब्रह्मसत्ताका ही साक्षात्कार करके "मैं और मेरा" भावपूर्ण अविद्या-जनित इस लोकसे प्रयाण करनेके अनन्तर अमृत हो जाते हैं। अर्थात् शरीरान्तके बाद उसी आत्मैकत्वदर्शनके फलसे अद्वैत आत्मभावको प्राप्त करके अमृत अर्थात् ब्रह्म हो जाते हैं। "वह जो व्यक्ति परब्रह्मको जानता है, वह स्वयं ब्रह्म हो जाता है" यह श्रुति भी इस विषयका प्रमाण है॥ १४॥ ५॥

इति केनोपनिषद्का द्वितीय खण्ड शांकरभाष्य और भाष्यानुवाद सहित समाप्त।

टीका।

प्रकृतिरूपिणी-ब्रह्मशक्ति-सम्भूत यावत् दृश्यप्रपंच असत् कहाता है। प्रकृति स्वयं त्रिगुणमयी होनेके कारण परिणामिनी है। परिणामिनी प्रकृतिका कार्य्य अवश्य ही परिणामी होगा। परिणामी पदार्थ मात्र ही असत् है, यह मानना ही पड़ेगा। निष्कर्ष यह है कि, ब्रह्म और ब्रह्मप्रकृतिमें "अहं ममेतिवत्" सम्बन्ध स्थापित होने पर भी यह सर्वतंत्र सिद्धान्त है कि, ब्रह्म अपरिणामी है और प्रकृति परिणामिनी है। अतः यह भी दार्शनिक युक्तियोंसे प्रतिपन्न हुआ कि, ब्रह्म सत्य है, और प्रकृति-प्रसूत जगत् असत्य है। यह मृत्युलोक कर्मभूमि है। अतः कर्म, उपासना और ज्ञानार्जनके द्वारा सिद्धि प्राप्त करनेका अव-सर इस मृत्युलोकमें सबसे अधिक है। इस कारण श्रुति कहती है कि, विवेकी व्यक्तिको यह सर्वप्रकारसे प्रयत्न करना उचित है

कि, असत्यका त्याग करके सत्यकी उपलब्धि इसी लोकमें कर लेवे। यदि इस कर्मभूमिमें जन्म लेनेका सुअवसर मनुष्य खो देवे तो वह अन्य भोगलोकोमें पहुंचकर अपने आवागमन-चक्रको दीर्घकालतक स्थायी रखता है। प्रबल स्रोतस्विनी नदीमें यदि कोई डूब जाय तो, जलके अधिदैव वरुणदेवता अपने साधारण नियमके अनुसार उसको एकबार जलके ऊपर पहुँचा देते हैं; उस समय यदि वह मनुष्य किसी प्रकारसे आत्म-रक्षा कर लेता है, तो बच जाता है, यदि ऐसा न हो तो दुबारा डूबने पर उसका पता नहीं चलता है। ठीक उसी प्रकार जीव जब आध्यात्मिक उन्नति करता हुआ कर्मभूमि मृत्युलोकमें जन्म लेकर ऐसा कर्माधिकार और ऐसा सत्सङ्ग प्राप्त करता है कि, जिससे वह सत्यको प्राप्त कर सके, उस समय यदि वह उस अवसरको गवा देता है, तो उसको वही दशा होती है जैसा कि ऊपर उदाहरण दिया गया है। ऐसे सुअवसरको खो देने पर जीव कर्मप्रवाहके निम्नतर भूमिमें पहुंच जाता है। पुनः उसको वह उच्चतर अधिकार कब मिलेगा, इसका ठिकाना नहीं रहता है और जो सावधान तत्वज्ञानी चित्तके तीव्र-संवेग, सात्त्विक धृति, और सात्त्विक ज्ञानको आश्रय करके सत्यका अनुसन्धान कर लेते हैं, वे स्थूलशरीरका अन्त हो जाने पर निश्चय ही अमृत हो जाते हैं, ज्ञानवान् व्यक्तिमात्रको यह वेदाज्ञा स्मरण रखना उचित है ॥१४॥

इति केनोपनिषत्‌के द्वितीय खण्डकी
उपनिषत्सुबोधिनी टीका समाप्त।

तृतीयः खण्डः।

——:*:——

ब्रह्म ह देवेभ्यो विजिग्ये,

तस्य ह ब्रह्मणो विजये देवा अमहीयन्त।

त ऐक्षन्तास्माकमेवायम्,

विजयोऽस्माकमेवायं महिमेति ॥१५॥१॥

ब्रह्म ह (किल) देवेभ्यः (देवहितार्थं) विजिग्ये (जयं लब्धवत्) तस्य ब्रह्मणः ह विजये देवाः अमहीयन्त (महिमानं प्राप्तवन्तः) ते (देवाः) ऐक्षन्त (इक्षितवन्तः) अस्माकं एव अयं विजयः, अस्माकं एव अयं महिमा च इति ॥ १५ ॥ १ ॥

मन्त्रार्थ।

ब्रह्मने देवताओके हितार्थ असुरोंको पराजित किया, ब्रह्मके किये हुए उस जयलाभसे देवताओने अपनेको गौरवान्वित समझा। उन्होने समझा कि, यह विजय और यह महिमा हमारी ही है, अन्यकी नहीं ॥ १५ ॥ १ ॥

शाङ्कर-भाष्यम् ।

ब्रह्म ह देवेभ्यो विजिग्ये। "अविज्ञातं विजानतां विज्ञातमविजानताम्" इत्यादिश्रवणात् यदस्ति, तद्विज्ञातं प्रमाणैः, यन्नास्ति तदविज्ञातं शशविषाणकल्पमत्यन्तमेवासत् दृष्टम् । तथेदं ब्रह्म अविज्ञातत्वात् असदेवेति मन्दबुद्धीनां व्यामोहो माभूदिति, तदर्थेयमाख्यायिका आरभ्यते । तदेव हि ब्रह्म सर्वप्रकारेण प्रशास्तृ, देवानामपि परो देवः, ईश्वराणामपि ईश्वरो दुर्विज्ञेयः, देवानां जयहेतुः, असुराणां पराजयहेतुः; तत्कथं नास्तीति, एतस्य अर्थस्य अनुकूलानि ह्युत्तराणि वचांसि दृश्यन्ते । अथवा ब्रह्मविद्यायाः स्तुतये । कथं ? ब्रह्म-विज्ञानाद् हि अग्न्यादयो देवा देवानां श्रेष्ठत्वं जग्मुः, ततोऽपि अतितरामिन्द्र इति । अथवा दुर्विज्ञेयं ब्रह्म,—इत्येतत् प्रदर्श्यते; येन अग्न्यादयोऽतितेजसोऽपि क्लेशेनैव ब्रह्म विदितवन्तः, तथेन्द्रो देवानामीश्वरोऽपि सन् इति वक्ष्यमाणोपनिषद्विधिपरं वा सर्वं ब्रह्मविद्याव्यतिरेकेण प्राणीनां कर्त्तृत्वभोक्तृत्वाद्यभिमानो मिथ्या, इत्येतद्दर्शनार्थं वा आख्यायिका । यथा देवानां जयाद्यभिमानस्तद्वदिति ।

ब्रह्म यथोक्तलक्षणं परं ह किल देवेभ्योऽर्थाय विजिग्ये जयं लब्धवत्, देवानामसुराणां च संग्रामेऽसुरान् जित्वा जगदरातीन् ईश्वरसेतुभेत्तॄन् देवेभ्यो जयं तत् फलं च प्रायच्छत् जगतः स्थेम्ने । तस्य ह किल ब्रह्मणो विजये देवाः अग्न्यादयः अमहीयन्त-महिमानं प्राप्तवन्तः, तदा आत्मसंस्थस्य प्रत्यगात्मन ईश्वरस्य सर्वज्ञस्य सर्वक्रियाफलसंयोजयितुः प्राणिनां सर्वशक्तेः जगतः स्थितिं चिकीर्षोः अयं जयो महिमा च, इत्यजानन्तस्ते देवा ऐक्षन्त—ईक्षितवन्तः अग्न्यादिस्वरूपपरिच्छिन्नात्मकृतः अस्माकमेवायं

विजयः अस्माकमेवायं महिमा अग्निवाय्विन्द्रत्वादिलक्षणो जयफलभूतोऽस्माभिरनुभूयते, नास्मत्प्रत्यगात्मभूतेश्वरकृतः, इत्येवं मिथ्याभिमानलक्षणवताम् ॥ १५ ॥ १ ॥

भाष्यानुवाद ।

पहले कहा गया है कि, ब्रह्म विज्ञलोगोंके निकट अविज्ञात है और अज्ञोंके निकट विज्ञातरूपसे प्रतिभात होता है। साधारणतः देखा जाता है कि, जो पदार्थ सत्तावान् है, वही प्रमाणके द्वारा जाना जाता है, जो शश-शृङ्गके समान एकवार ही असत् है, वही अविज्ञात रहता है। तदनुसार मन्दबुद्धि-सम्पन्न मनुष्योंको शंका हो सकती है कि, जब ब्रह्म भी अविज्ञात है, तो वह भी अवश्य ही शश-शृङ्गकी तरह असत् है। अल्पबुद्धि-सम्पन्न मनुष्योंकी उक्त शंका (भ्रम) निवारणार्थ यह आख्यायिका प्रारम्भ की जाती है,—वह दुर्ज्ञेय ब्रह्म जब जगत्-का सर्वतोभावसे शासनकर्त्ता है, देवताओंके भी परमदेवता हैं, ईश्वरों (ब्रह्मा, विष्णु, महेश) का भी ईश्वर है; देवताओंको विजयप्रद और असुरोंका पराजय करनेवाला है, तब वह नहीं कैसे है ? अवश्य ही है। इस खण्डके परवर्त्ती वाक्योंमें इसी विषयका ही वर्णन देखा जाता है।

अथवा ब्रह्मविद्याकी ही स्तुतिके लिये इस आख्यायिकाका प्रारम्भ है। क्योंकि ब्रह्मज्ञानके ही बलसे अग्नि आदि देवता-गण देवताओंमें श्रेष्ठ हुये थे, एवं इसी ब्रह्म-विद्याके फलसे ही

देवराज इन्द्रने अग्नि आदि देवताओंकी अपेक्षा अधिक श्रेष्ठता लाभ की थी।

अथवा इस आख्यायिका द्वारा ब्रह्मकी दुर्गमता दिखायी जारही है। क्योंकि अति तेजस्वी अग्नि आदि देवताओंने भी अतिकष्टसे ब्रह्मको जान पाया था। अधिक क्या कहा जाय, इन्द्रने देवताओंके स्वामी होनेपर भी अतिकष्टसे ब्रह्मतत्त्वको समझा था। इस कारण उपनिषद्-पदवाच्य ब्रह्मविद्या-विधानार्थ अथवा ब्रह्मविद्या ही एक मात्र सत्य है, इसके सिवाय प्राणियोंका जो कर्त्तृत्व, भोक्तृत्व आदि अभिमान है, वह सभी मिथ्या हैं, इसी अभिप्रायको जनानेके लिये यह आख्यायिका प्रारम्भ होती है।

पूर्वोक्त-लक्षणान्वित परब्रह्मने एक समय देवताओंके निमित्त विजय-प्राप्त किया था; अर्थात् देवासुर-संग्राममें जगत्का परमशत्रु तथा ईश्वरीय नियमको उल्लङ्घन करनेवाले असुरोंको जगत्की रक्षाके लिये पराजित करके जय और जय-फल देवताओंको प्रदान किया था। वास्तवमें यह विजय आत्म-गत, (सर्वान्तर्यामी) सर्वव्यापी, सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान, प्राणियोंके सब कर्मोंके फलप्रद तथा जगत्की स्थिति-चिकीर्षु (स्थिति चाहनेवाले) परमेश्वरका ही विजय है, इसको न समझकर अग्नि आदि देवतागण महिमा (गर्व) अनुभव करते थे। अग्नि आदि परिच्छिन्नरूपधारी देवताओंने समझा कि, यह विजय हमने किया और यह विजय हमलोगोंका ही है अर्थात् हमारा ही यह

विजय-गौरव है; इसी कारण ही हमलोग अग्नित्व, वायुत्व और इन्द्रत्वादिरूप विजय-फल अनुभव करते हैं, किन्तु हम लोगोंके अन्तरस्थ परमेश्वर-कृत यह विजय नहीं है। उन लोगोंने इस प्रकारका मिथ्याअभिमान किया था ॥ १५ ॥ १ ॥

टीका।

पूर्व खण्डमें सत्य अनुसन्धान न करनेसे भी अधोगति होती है, इसको प्रतिपन्न करके अब उच्चसे उच्च श्रेणीके जीवोंमें भी सत्यअनुसन्धानके विना कैसा भय रहता है, इसको प्रतिपन्न करनेके अर्थ इन मन्त्रोंकी प्रवृत्ति है और साथ ही साथ ब्रह्मके निर्गुणत्व और सगुणत्व, सर्वकारणत्व और सर्वशक्तिमत्त्व आदि भावोंका भी प्रतिपादन इन मन्त्रोंमें किया गया है। यह मृत्युलोक एक चतुर्दश भुवनके चौथे हिस्सेका एक हिस्सा है। क्योंकि भूलोकके चार अंश हैं, यथा—नरकलोक, पितृलोक, प्रेतलोक और मृत्युलोक। भूलोक चौदह भुवनोंमें से एक भुवन है। ऊपरके सात लोकोंमें देवश्रेणीके जीव वास करते हैं और नीचेके सात लोकोंमें असुरश्रेणीके जीव वास करते हैं। भूलोकके चार अंशोंमेंसे पितृलोकमें देवश्रेणीके जीव वास करते हैं, जिसमें इस लोकके भी मृत-पितृगण जाकर स्वर्गसुख भोग करते हैं। इसके अतिरिक्त नरकलोक, प्रेत-लोक और मृत्युलोक है, जिनमें कैसे जीव वास करते हैं, सो स्पष्ट ही है। ऊपरके लोकोंमें रहनेवाले देवतागण अपने अधिकारमें रहना ही धर्मानुकूल समझते हैं, और असुर-राज्य

छीननेका कभी प्रयत्न नहीं करते; परन्तु नीचेके सप्तलोकके असुरगण सर्वदा देवाधिकार छीननेमें प्रयत्नशील रहते हैं। यही दैवराज्यमें देवासुर-संग्रामका कारण है । जब कभी देवताओंका पुण्य क्षीण हो जाता और असुरोंका पुण्य बढ़ जाता है, तब देवासुर-संग्राममें देवतागण हारने लगते हैं, और कभी कभी देवलोककी राजधानी स्वर्लोकतक असुर-गण पहुंच जाया करते हैं। यही देवासुर-संग्राममें देवताओंके पराजयका रहस्य है। इस देवासुर-संग्रामके तीन भेद हैं। अधिदैवस्वरूप ऊपर कहा गया है । मृत्युलोकमें देवांशसे उत्पन्न मनुष्य और असुर-अंशसे उत्पन्न मनुष्योंका जो युद्ध है, वह इसका अधिभूत रूप है और मनुष्यके अन्तःकरणमें क्लिष्ट एवं अक्लिष्ट वृत्तिका जो युद्ध है, वह इसका अध्यात्मरूप है । मनुष्यके अन्तःकरणसमूह नित्य देवासुर-संग्रामके लिये दुर्गरूप हैं, जिनको कभी असुर छीन लेते हैं, कभी देवतागण अधिकार कर लेते हैं। इन मन्त्रोंने इस प्रकारसे देवासुर-संग्रामका रहस्य ब्रह्मज्ञानके प्रकाशके लिये गाथारूपसे वर्णन किया है ॥ १५ ॥ १ ॥

तद्धैषां विजज्ञौ, तेभ्यो ह प्रादुर्बभूव ।
तन्न व्यजानत किमिदं यक्षमिति ॥ १६ ॥ २ ॥

(ब्रह्म) ह एषां (देवानां) तत् (जय-महिमविषये मिथ्येक्षणम्) विजज्ञौ (विज्ञातवत्) तेभ्यः (देवेभ्यः) ह प्रादुर्बभूव

तत्र (प्रादुर्भूतं ब्रह्म दृष्ट्वा अपि) इदं यक्षं (पूज्यं महद्भूतं) किम् इति (देवाः) न व्यजानत (न विज्ञातवन्तः) ॥ १६ ॥ २ ॥

मन्त्रार्थ ।

देवताओंके इस मिथ्या अभिमानको ब्रह्म समझ गये । वे देवताओंके निकट आविर्भूत हुए किन्तु इस आविर्भूतरूपका दर्शन करके भी देवतागण नहीं समझ सके कि, यह महत् पूजनीय मूर्त्ति क्या है ॥ १६ ॥ २ ॥

शाङ्कर-भाष्यम् ।

एव मिथ्याभिमानेक्षणवता तत् ह किलैषां मिथ्येक्षणं विजज्ञौ विज्ञानवत् ब्रह्म; सर्वेक्षितृ हि तत् सर्वभूतकरणप्रयोक्तृत्वात् देवानां च मिथ्याज्ञानमुपलभ्य मैवासुरवद्देवा मिथ्याभिमानात् पराभवेयुरिति तदनुकम्पया देवान् मिथ्याभिमानापनोदनेन अनुगृह्णीयाम्, इति तेभ्यो देवेभ्यो ह किल अर्थाय प्रादुर्बभूव—स्वयोगमाहात्म्यनिर्मितेन अत्यद्भुतेन विस्मापनीयेन रूपेण देवानामिन्द्रियगोचरे प्रादुर्बभूव । तत् प्रादुर्भूतं ब्रह्म न व्यजानत नैव विज्ञातवन्तो देवाः,—किमिदं यक्ष पूज्य महद्भूतमिति ॥ १६ ॥ २ ॥

भाष्यानुवाद ।

ब्रह्म देवताओंके उस मिथ्याभिमानको जान गये थे; क्योंकि वे सबभूतोंके इन्द्रियसमूहोंके चालक होनेसे सर्वदर्शी हैं । उन्होने देवताओंके पूर्वोक्त मिथ्याज्ञान (भ्रान्ति) को समझ कर सोचा कि, देवतागण भी असुरोंकी तरह ही मिथ्याभिमान-

में विमुग्ध न हो जायं; देवताओंके इस मिथ्याभिमानको तोड़कर उनके प्रति अनुग्रह दिखाऊंगा; ऐसा निश्चय करके देवताओंके हितके लिये वे आविर्भूत हुए। अर्थात् अपने अद्भुत योगबलके प्रभावसे बनाये हुए विस्मयकारी रूपसे देवताओंकी दृष्टिके सामने आविर्भूत हुये, किन्तु देवतागण उस आविर्भूतरूपको देखकर भी नहीं समझ सके कि, यह महान् विस्मयप्रद पूजनीयरूप क्या है? ॥ १६ ॥ २ ॥

टीका।

वे ब्रह्म ही निर्गुण हैं, वे ही सगुण हैं। वे ही शक्तिमान् हैं और वे ही शक्ति-वैभवसे परे स्थित हैं। वे ही सर्वान्तरात्मा और रूपरहित हैं, पुनः वे ही भक्तोंके कल्याणार्थ सगुणरूपको भी धारण कर लेते हैं। यही सब अलौकिक रहस्य प्रकाशित करनेके लिये इन मन्त्रोंकी प्रवृत्ति है। दैवीमीमांसादर्शनका यह सिद्धान्त है कि, ब्रह्मशक्ति महामायाके वैभव-प्रकाशके लिये ही एक, अद्वितीय, सच्चिदानन्दमय ब्रह्म निर्गुणसे सगुणरूपमें प्रतिभात होते हैं। वेदान्तदर्शनका यह सिद्धान्त है कि, मायोपाधि-विशिष्ट होनेसे ही निर्गुण ब्रह्म सगुण ईश्वर बन जाते हैं। दोनो विज्ञान ही रूपान्तरसे एक सिद्धान्तके प्रकाशक हैं। जिस प्रकार एक गायक और उसकी गानशक्ति दोनोंमें अहं-ममेतिवत् अभेद है, उसी प्रकार ब्रह्म और ब्रह्मशक्ति महामायाका सम्बन्ध समझना उचित है। ब्रह्मशक्ति जब ब्रह्ममें लीन रहती है, वही निर्गुण अवस्था है और जब वह शक्ति

व्यक्तभावको धारण करके किसी क्रियामें प्रवृत्त होती है, तभी वह शक्ति और शक्तिमान्‌की युग्मावस्था सगुण अवस्था कहाती है। देवासुर-संग्राममें देवताओंकी जय होनेसे देवता मदान्ध होने लगे। इससे उनके पतनकी सम्भावना देखकर करुणालय भगवान्‌में जो भक्तोंपर कृपा करनेकी इच्छा हुई, उसी इच्छाका विलास यह सगुणरूप है, जिसका देवताओंको दर्शन हुआ था। दर्शन-शास्त्रोंका यह सिद्धान्त है कि, मूलप्रकृति परम-पुरुषके निमित्त परिणामिनी होकर कार्य्य करती है। वह कार्य्य सत्त्व, रज, तम त्रिगुणके अनुसार यथाक्रम हुआ करता है। प्रकृति पुरुषके निमित्त, कार्य करती है। इस कारण यह भी मानना पड़ेगा कि, वस्तुतः सब कार्य्य ब्रह्मनिमित्तक ही है। केवल जीव अहंकारके वशीभूत होकर अविद्याके प्रभावसे यह समझने लगता है कि "मैं कर्त्ता और भोक्ता हूँ" इत्यादि। यही जैव-अहंकार जीवके बन्धनका मूल कारण है। यही अहंकार बढ़ते बढ़ते जीव क्रमशः नाना प्रकारकी दुर्गतियोंको प्राप्त होता है और उसकी आत्मोन्मुखकारिणी सद्गति बन्द हो जाती है। देवतारूपी भक्तोंको इस विपत्तिसे बचाने-के लिये जगदीश्वरको यह अलौकिकरूप धारण करना पड़ा था ॥ १६ ॥ २ ॥

तेऽग्निमब्रुवन् जातवेद एतद्विजानीहि।

किमेतद्‌ यक्षमिति। तथेति ॥ १७ ॥ ३ ॥

ते (देवाः) अग्निं अब्रुवन् (उक्तवन्तः)—हे जातवेदः !(सर्वज्ञकल्प, त्वं) एतत् (अस्मद्गोचरस्थं) विजानीहि—(विशेषतः बुध्यस्व)—किमेतत् यक्षमिति । (अग्निः) तथा (एवं अस्तु) इति ॥ १७ ॥ ३ ॥

मन्त्रार्थ ।

देवताओंने अग्निसे कहा था कि, हे जातवेद—अग्नि ! यह यक्ष क्या है सो, तुम [जाकर] मालूम करो । अग्निने भी तथास्तु कहकर [उसीकी ओर चले गये] ॥ १७ ॥ ३ ॥

तदभ्यद्रवत्, तमभ्यवदत् कोऽसीति ।
अग्निर्वा अहमस्मीत्यब्रवीज्जातवेदा वा अहमस्मीति॥१८॥४॥

[अग्निः] तत् (यक्षं) अभ्यद्रवत् (प्रतिगतवान्) । [यक्ष] तम् (अग्निं) अभ्यवदत् (प्रत्यभाषत—त्वं) कः असि इति ? अहं अग्निः (अग्रं नयतीति) वै (प्रसिद्धः)अस्मि इति, जातवेदाः (जातान् उत्पन्नान् वेत्तीति) वै (अपि) अहम् अस्मि इति [अग्निः]अब्रवीत् ॥१८॥४॥

मन्त्रार्थ ।

अग्निदेव उस यक्षके समीप पहुंचे, यक्षने उनसे पूछा कि,—तुम कौन हो ? अग्निने कहा कि,—मैं अग्नि हूँ और जातवेदा नामसे प्रसिद्ध हूँ ॥ १८ ॥ ४ ॥

तस्मिंस्त्वयि किम् वीर्य्यमिति ।
अपीदं सर्वं दहेयम्, यदिदं पृथिव्यामिति ॥१९॥५॥

[यक्षं अवोचत्] तस्मिन् (एवं प्रसिद्धगुण-नामवति) त्वयि

किम् वीर्य्यम् (शक्तिः) अस्ति इति ? [अग्निः अब्रवीत्] पृथिव्यां इदं (स्थावरादि) यत्र [अस्ति] इदं सर्वम् अपि दहेयम् इति ॥ १९ ॥ ५ ॥

मन्त्रार्थ ।

[ब्रह्मने] पूछा कि तुम्हारी क्या सामर्थ्य है ? [अग्निने कहा] इस संसारमें जो कुछ पदार्थ हैं, उन सबोंको ही जला सकता हूँ ॥ १९ ॥ ५ ॥

तस्मै तृणं निदधावेतद्दहेति ।
तदुपप्रेयाय । सर्वजवेन तन्न शशाक दग्धुम् ॥
स तत एव निववृते, नैतदशकं
विज्ञातुम्, यदेतद्यक्षमिति ॥ २० ॥ ६ ॥

एतत् दह इति [उक्त्वा] यक्षं तस्मै (तस्य अभिमानवतः अग्नेः पुरतः) [एक] तृणं निदधौ (स्थापितवत्) [अग्निः] सर्वजवेन (सर्वोत्साहकृतेन वेगेन) तत् (तृणं) उपप्रेयाय (तत्समीपं गतवान्) । तत् (तु) दग्धुं न शशाक (समर्थो नाभूत्) । सः (अग्निः) ततः (यक्षात्) एव निववृते (निवृत्तः बभूव) [प्रत्यागतश्च देवान् अब्रवीत्] यत् एतत् यक्षं, एतत् विज्ञातुं अहं न अशकम् (शक्तः नाभवम्) ॥२०॥६॥

मन्त्रार्थ ।

यह दग्ध करो कहकर—ब्रह्मने उस अभिमानी अग्निके सामने एक तृण रक्खा । अग्नि भी बहुत उत्साहके साथ तत्क्षण उसके समीप पहुंचे; किन्तु उसको जलानेमें समर्थ नहीं हुए ।

तब वहांसे लौट आये और देवताओंसे कहा कि, यह यक्ष कौन है सो नहीं समझ सका ॥ २० ॥ ६ ॥

शाङ्कर-भाष्यम् ।

ते तदजानन्तो देवाः सान्तर्भयाः तद् विजिज्ञासवः अग्निम् अग्रगामिनं जातवेदसं सर्वज्ञकल्पं अब्रुवन् उक्तवन्तः—हे जातवेदः! एतत् अस्मद्गोचरस्थं यक्षं विजानीहि विशेषतो बुध्यस्व, त्वं नस्तेजस्वी, किमेतत् यक्षमिति । तथास्तु इति तद् यक्षं अभि अद्रवत्, तत् प्रति गतवान् अग्निः । त च गतवन्तं पिपृच्छिषु तत्समीपे अप्रगल्भत्वात् तूष्णीम्भूत तत् यक्षं अभ्यवदत् अग्निं प्रत्यभाषत—कोऽसीति । एवं ब्रह्मणा पृष्टो ऽग्निः अब्रवीत्—अग्निः वै अग्निर्नामाहं प्रसिद्धः, जातवेदा इति च, नाम-द्वयेन प्रसिद्धतया आत्मान श्लाघयन् । इत्येवमुक्तवन्तं ब्रह्म अवोचत्—तस्मिन् एवं प्रसिद्धगुण-नामवति त्वयि किं वीर्य्यं सामर्थ्यम् इति ? सोऽब्रवीत—इदं जगत सर्वं दहेयम् भस्मीकुर्य्याम्,—यदिद स्थावरादि पृथिव्याम् इति । पृथिव्याम् इत्युपलक्षणार्थम्, यतः अन्तःरीक्षस्थमपि दह्यत एवाग्निना । तस्मै एवमभिमानवते ब्रह्म तृण निदधौ पुरोऽग्नेः स्थापितवत । ब्रह्मणा एतत तृणमात्र ममाग्रतो दह—"न चेदसि दग्धु समर्थः, मुञ्च दग्धृत्वाभिमानं सर्वत्र," इत्युक्तः तत तृण उपप्रेयाय तृणसमीप गतवान् सर्वजवेन सर्वोत्साहकृतेन वेगेन, गत्वा तत न शशाक नाशकत दग्धुम् । स जातवेदाः तृणं दग्धुमशक्तो व्रीडितो हतप्रतिज्ञः तत एव यक्षादेव तूष्णीं देवान् प्रति निववृते निवृत्तः प्रतिगतवान् नैतत यक्षं अशक शक्तवान् अहं विज्ञातुं विशेषतः—यदेतद् यक्षमिति ॥ १७ ॥ ३—२० ॥ ६ ॥

भाष्यानुवाद ।

देवताओंने उस यक्षके सम्बन्धमें कुछ न समझ सकनेपर भीतर भीतर भयभीत होकर उस तत्वके जाननेकी इच्छासे प्रायः सर्वज्ञ और सबके अग्रगामी अग्निसे कहा कि हे जातवेद ! हम लोगोंमें तुम्हीं एक मात्र तेजस्वी हो, अतएव हम लोगोंके समीप यह यक्ष कौन है ? सो तुम विशेषरूपसे मालूम करो अर्थात् तुम्हीं इसका सम्वाद जान आओ। अग्नि 'तथास्तु' कहकर उस यक्षकी ओर चले। अग्नि उसके समीप जाकर अनुद्धतभावसे मौन होकर खड़े रहे, तब उस यक्षने अग्निके परिचय जाननेकी इच्छासे पूछा कि तुम कौन हो ? इस प्रकार पूछनेपर अग्निदेव अपने दो नामोंसे आत्म-प्रशंसा करते हुए बोले,—मैं जातवेदा हूँ और अग्निनामसे प्रसिद्ध हूँ। तब ब्रह्मने पूछा—तुम्हारा ऐसा गुण और नाम है; तब तुम्हारा वीर्य्य अर्थात् सामर्थ्य कैसा है ? अग्निने कहा-- इस पृथिवीमें स्थावरादि जो कुछ पदार्थ हैं, मैं उन सबको भस्मीभूत कर सकता हूँ। (अग्निके द्वारा अन्तरीक्षस्थ वस्तु भी जल जाती है, इस कारण पृथिवी शब्दसे अन्तरीक्षका उपलक्षण-बोधक समझना चाहिये।) ब्रह्मने ऐसे अभिमानी अग्निके सामने एक तृण रखकर कहा कि, हे अग्नि ! तुम हमारे सामने इस तृणको जला दो। यदि इस तृणको न जला सको तो अपना दग्धृत्व अभिमान त्याग करो अर्थात् मैं सब कुछ भस्मीभूत कर सकता हूँ, इस अभिमानको परि-

त्याग करो। ब्रह्मके आज्ञानुसार अग्नि अपने सारे वेग और उत्साहके साथ उस तृणके समीप गये, किन्तु उस तृणके जलानेमें समर्थ नहीं हुए। जातवेदा अग्नि उस तृणके जलानेमें असमर्थ हुए तथा लज्जित और प्रतिज्ञा-भ्रष्ट होकर मौन हो यक्षके निकटसे लौट आये। लौट आकर देवताओंसे कहा कि, यह यक्ष क्या वस्तु है, सो मैं विशेषरूपसे नहीं जान सका हूँ ॥ १७ ॥ ३—॥ २० ॥ ६ ॥

टीका।

अग्निदेव देवताओंमें ब्राह्मणवर्ण होनेसे और मृत्युलोकसे देवताओंके सम्वर्द्धनके निमित्त यज्ञभाग पहुँचानेवाले होनेसे एवं ज्ञानवान् होनेसे सबसे प्रथम वे ही अनुसन्धान करनेके लिये भेजे गये थे। परन्तु वे यावत् आग्नेय-शक्तिके अधि-दैव होनेपर भी सर्वशक्तिमयी महामाया जिनकी सेवामें नियुक्त हैं, ऐसे शक्तिमान् जगदीश्वरकी बिना इच्छाके और बिना उनकी शक्तिकी सहायताके अपने आग्नेयशक्तिका उपयोग कदापि नहीं कर सकते थे। इस रहस्यके द्वारा ब्रह्मशक्ति और ब्रह्मका स्वरूप दिखाया गया है ॥ १७ ॥ ३—॥ २० ॥ ६ ॥

अथ वायुमब्रुवन् वायवेतद्द विजानीहि—किमेतत् यक्षमिति । तथेति ॥ २१ ॥ ७ ॥

अथ (अनन्तरं) [देवाः] वायुं अब्रुवन्, हे वायो ! किम् एतत्

यक्षम् इति एतत् विजानीहि । तथा (एवमस्तु) [वायुः अब्रवीदिति शेषः] ॥ २१ ॥ ७ ॥

मन्त्रार्थ ।

अनन्तर देवताओंने वायुसे कहा कि,—हे वायो ! तुम जान आओ कि यह यक्ष कौन है ? वायुने कहा कि ऐसा ही हो ॥ २१ ॥ ७ ॥

तदभ्यद्रवत्, तमभ्यवदत्—कोऽसीति ।

वायुर्वा अहमस्मीत्यब्रवीन्मातरिश्वा वा अहमस्मीति ॥२२॥८॥

[वायुश्च] तत् (यक्षं) अभि (लक्ष्यीकृत्य) अद्रवत् । [यक्षं च] तम् (वायुं) अभ्यवदत् (पप्रच्छ) [त्वं] कः असि इति ? वायुः वै अहं अस्मि इति, मातरिश्वा वै अहं अस्मि इति च [वायुः] अब्रवीत् ॥ २२ ॥ ८ ॥

मन्त्रार्थ ।

वायु उस यक्षके निकट पहुंचे । यक्षने उनसे पूछा कि, तुम कौन हो ? वायुने कहा मैं वायु हूँ और मैं मातरिश्वा हूँ ॥ २२ ॥ ८ ॥

तस्मिंस्त्वयि किं वीर्य्यमिति ? अपीदं सर्वमाददीयम् यदिदं पृथिव्यामिति ॥ २३ ॥ ९ ॥

तस्मिन् त्वयि किं वीर्य्यं इति ? [यक्षं अवोचत्] [वायुः अब्रवीत्] इदं सर्वं अपि आददीयम् (आददीय गृह्णीयाम्) यत् इदं पृथिव्यां इति ॥ २३ ॥ ९ ॥

मन्त्रार्थ ।

यक्षने वायुसे पूछा कि, ऐसे गुणसम्पन्न तुममें क्या सामर्थ्य है ? वायुने कहा कि इस पृथिवीमें जो कुछ है, मैं उन सबोंको आदान अर्थात् ग्रहण करनेमे समर्थ हूं ॥ २३ ॥

तस्मै तृणं निदधावेतदादत्स्वेति ।
तदुपप्रेयाय । सर्वजवेन तन्न शशाकादातुम् ।
स तत एव निववृते; नैतदशकं
विज्ञातुं यदेतद्यक्षमिति ॥ २४ ॥१०

[यक्ष च] तस्मै (वायवे) तृण निदधौ एतत् आदत्स्व इति । [वायुः] तत् (तृणं) उपप्रेयाय । सर्वजवेन तत् न शशाक आदातुम् । सः (वायुः) ततः (यक्षात्) एव निववृते 'न एतत् अशक विज्ञातुं' यत् एतत् यक्षमिति ॥ २४ ॥१० ॥

मन्त्रार्थ ।

यक्षने इस प्रकार शक्तिके अभिमान रखनेवाले वायुके सामने एक तृण रखकर कहा कि, इसको तुम ग्रहण करो । वायु बड़ी जल्दीसे जाकर सारे वल और उत्साहके प्रयोगसे भी उसको ग्रहण करनेमें समर्थ नही हुए । तव लौट आकर देवताओंसे कहा कि, यह यक्ष कौन है, सो मैं नहीं जानसका हूँ ॥ २४ ॥१० ॥

शाङ्कर-भाष्यम् ।

अथ वायुमिति । अथ अनन्तरं वायुमब्रुवन्—हे वायो ! एतद्विजानीहि

इत्यादिसमानार्थं पूर्वेण। वानात्—गमनात्, गन्धनात् वा वायुः। मातरि अन्तरिक्षे यतीति मातरिश्वा। इदं सर्वमपि आददीय गृह्णीयाम् यदिदं पृथिव्यामित्यादि समानमेव ॥ २१ ॥ ७ ॥ २४ ॥ १० ॥

भाष्यानुवाद।

अनन्तर देवताओंने वायुसे कहा,—हे वायो! तुम इस यक्षको जान आओ, इत्यादि और सभी पूर्व मन्त्रके अर्थके अनुरूप ही हैं। 'वा' धातुका अर्थ गमन अथवा गन्धग्रहण है, वायु वह कार्य्य करता है, इसलिये वायु और अन्तरिक्षमें विचरण करता है, इस कारण मातरिश्वा नामसे अभिहित होता है। इस पृथिवीमें जो कुछ है, सभी मैं ग्रहण कर सकता हूं इत्यादि अन्यान्य अंशका अर्थ पूर्ववत् है ॥ २१ ॥ ७ ॥ २४ ॥ १० ॥

टीका।

इस दैवकार्य्यके महत्त्वके विचारसे अग्निदेवके अनन्तर वायुदेवका अधिकार सर्वमान्य है। आकर्षण और विकर्षणसे यावत् कार्य्य करने और यावत् पदार्थके धारण करनेकी शक्ति वायुमें है। स्थूलवायु प्राण और अपानरूपसे आकर्षण और विकर्षण शक्तियोंको धारण करती हुई स्थूल शरीरको धारण किये रहती है। स्थूल शरीरमेंसे वायुका यह प्रभाव नष्ट होते ही स्थूल शरीर नष्ट हो जाता है। उसी प्रकार सूक्ष्म जगत्में जब देखा जाता है, तो वायुकी सूक्ष्मावस्थाका प्रभाव भी ऐसा ही पाया जाता है। एक सौर-जगत्के सूर्य्यसे

लेकर नाना ग्रहउपग्रहोको सूक्ष्मअवस्थाप्राप्त वायु आकर्षण और विकर्षण शक्तियोको धारण करके उसकी समता द्वारा अपनी अपनी कक्षामें स्थापित रखती है। इन्हीं उदाहरणोंसे वायुका महत्त्व स्पष्ट है; परन्तु सर्व- शक्तिमयी महाशक्तिके अधीश्वर परमात्माके निकट वायुकी वह शक्ति कुछ भी नहीं है। इस विज्ञानसे यही प्रतिपादित हुआ ॥ २१ ॥ ७ ॥ २४ ॥ १० ॥

अथेन्द्रमब्रुवन्, मघवन्नेतद्व विजानीहि—किमेतद्व यक्षमिति । तथेति तदभ्यद्रवत् । तस्मात् तिरोदधे ॥ २५ ॥ ११ ॥

अथ (अनन्तरं) [देवाः] इन्द्र अब्रुवन्—हे मघवन् (पूजाशालिन् इन्द्र !) किम्—एतत् यक्षम् इति, एतत् विजानीहि । [इन्द्रश्च] तथा (एवमस्तु) इति [उक्त्वा] तत् यक्षं अभ्यद्रवत् । [ब्रह्म तु] तस्मात् (समीपवर्त्तिनः इन्द्रात्) तिरोदधे (अन्तर्हितं अभूत्)॥२५॥११॥

मन्त्रार्थ ।

अनन्तर देवताओंने इन्द्रसे कहा कि, हे पूज्य इन्द्र ! यह यक्ष कौन है ? सो तुम जान आओ । इन्द्र भी तथास्तु कहकर यक्षकी ओर चले, किन्तु यक्ष इन्द्रके निकटसे अन्तर्हित हो गये ॥ २५ ॥ ११ ॥

स तस्मिन्नेवाकाशे स्त्रियमाजगाम, बहुशोभमानामुमां हैमवतीम् । तां होवाच किमेतत् यक्षमिति ॥ २६ ॥ १२ ॥

इति तृतीयः खण्डः समाप्तः ।

सः (इन्द्रः) तस्मिन् एव आकाशे स्त्रियं (स्त्रीरूपा) बहुशोभमानां हैमवतीं (हेमकृताभरणवतीं इव, हिमवतः तनयां वा) उमां (विद्यारूपेण प्रादुर्भूतां) [यक्ष-वृत्तान्त-ज्ञापन-समर्थां मत्वा] आजगाम, तां ह (स्फुटं) उवाच किं एतत् यक्षम् इति ? ॥ २६ ॥ १२॥

मन्त्रार्थ ।

उसी आकाशमें बहुविधशोभासम्पन्ना, एवं मानो हेमाभरणसे भूषिता, अथवा हिमालय-कन्या उमाको स्त्री आकारमें विद्यारूपसे आविर्भूत देखकर तथा यक्षके वृत्तान्तका इनसे पता लगेगा ऐसा समझकर, देवराज इन्द्र उनके समीप गये और उनसे पूछा कि, यह यक्ष कौन है ? ॥ २६ ॥ १२ ॥

शांकर-भाष्यम् ।

अथेन्द्रमिति । अथेन्द्रमब्रुवन् मघवन् एतद्विजानीहि इत्यादि पूर्ववत् । इन्द्रः परमेश्वरो मघवान्, बलवत्त्वात्, तथेति तदभ्यद्रवत्, तस्मात् इन्द्रात् आत्म-समीपं गतात् तद् ब्रह्म तिरोदधे तिरोभूतम्, इन्द्रस्य इन्द्रत्वाभिमानोऽतितरां निराकर्त्तव्य इति अतः सम्वादमात्रमपि नादात् ब्रह्म इन्द्राय । तद् यक्षं यस्मिन् आकाशे आकाशप्रदेशे आत्मान दर्शयित्वा तिरोभूतम्, इन्द्रश्च ब्रह्मणस्तिरोधानकाले यस्मिन्नाकाशे आसीत्, स इन्द्रः तस्मिन् एव आकाशे तस्थौ, किं तद् यक्षमिति ध्यायन्, न निववृतेऽग्न्यादिवत्; तस्य इन्द्रस्य यक्षे भक्तिं बुद्ध्वा विद्या उमारूपिणी प्रादुरभूत् स्त्रीरूपा । स इन्द्रः तां उमां बहुशोभमानां सर्वेषां हि शोभमानानां शोभनतमां विद्यां, तदा बहुशोभमानामिति विशेषणमुपपन्नं

भवति। हैमवतीं हेमकृताभरणवतीमिव बहुशोभमानामित्यर्थः। अथवा उमैव हिमवतो दुहिता हैमवती नित्यमेव सर्वज्ञेन ईश्वरेण सह वर्त्तत इति ज्ञातुं समर्थेति कृत्वा तामुपजगाम। इन्द्रः तां ह उमाम् किल उवाच, पप्रच्छ—ब्रुहि किमेतत् दर्शयित्वा तिरोभूतं यक्षमिति ॥२५॥११॥२६॥१२॥

भाष्यानुवाद।

तदनन्तर देवताओंने इन्द्रसे कहा कि, हे मघवन्! यह जान आओ इत्यादि पहलेके समान है। इन्द्रका अर्थ—परमेश्वर तथा 'मघवन्' शब्दका अर्थ बलवान् है। मघवा इन्द्र तथास्तु कहकर यक्षकी ओर चले। इन्द्रके निकट पहुंचने पर ब्रह्म वहांसे अन्तर्हित हो गये। इन्द्रका ईश्वरत्वाभिमान पूर्णरूपसे चूर्ण करनेके अभिप्रायसे ब्रह्मने उनके साथ बात तक नहीं की। वे यक्ष जिस आकाश-प्रदेशमें आविर्भूत होकर अन्तर्हित हुये थे, एवं यक्षरूपी ब्रह्मके अन्तर्धान-समयमें इन्द्र जिस आकाश-प्रदेशमें उपस्थित थे, तब भी इन्द्र वहीं ठहरे रहे तथा वह यक्ष कौन था, यही ध्यान करते रहे किन्तु अग्नि-आदिकी तरह वहांसे लौट नहीं आये। यक्षके प्रति इन्द्रकी उस प्रकारकी भक्ति देखकर विद्यादेवी उमारूप धारण कर स्त्रीरूपमें आविर्भूत हुईं। सर्वोपरि शोभासम्पन्ना यह उमा हमारे प्रार्थित विषयका उत्तर देनेमें समर्थ हैं, ऐसा समझकर इन्द्र उनके समीप गये और पूछा कि, बताओ—यह जो दर्शन देकर पुनः अन्तर्हित हुआ, यह यक्ष कौन है? यहां उमाका अर्थ विद्या है; हैमवतीका अर्थ मानो हेमाभरण-

सम्पन्ना है। अथवा सर्वज्ञ महेश्वरके साथ सर्वदा रहनेके कारण हिमालयतनया-भगवती है। दोनों अर्थमें ही 'बहुशोभमाना' और उत्तर देनेकी सामर्थ्य युक्तियुक्त ही है ॥ २५ ॥ ११ ॥ २६ ॥ १२ ॥

इति केनोपनिषद्का तृतीय खण्ड शाङ्करभाष्य और भाष्यानुवाद सहित समाप्त।

टीका।

देवराज होनेसे इस अधिदैवरहस्यके भेद करनेके लिये वायुके अनन्तर इन्द्रका ही अधिकार था। इन्द्रत्वका अभिमान अधिक जानकर उस अभिमानको चूर्ण करनेके अभिप्रायसे भक्त-वाञ्छा-कल्पतरु श्रीभगवान्ने इस मन्त्रमें कथित लीला की और अपने अधिदैवरूपको लय कर लिया। तब देवराज होनेसे उन्होंने अपने उच्चअधिकारके अनुसार धैर्य्य, तपस्या और महत्त्वका परिचय दिया तथा अपने जिज्ञासा-व्रतका पालन किया। इसीसे पराविद्यारूपिणी ज्ञानजननी ब्रह्मशक्ति महामाया प्रकट हुईं। दृढ़व्रत, धीर, अहंकारहीन जिज्ञासुके हृदयमें ही पराविद्याका उदय होता है और तब वह मुमुक्षु विद्याकी कृपासे निःश्रेयस भूमिमें पहुँचता है। निर्गुण ब्रह्म और सगुण ब्रह्मके अलौकिकभावमय भेद और उसका रहस्य पहले कहा गया है। सगुण ब्रह्म और महाविद्यारूपिणी मूल प्रकृतिके अचिन्त्य भेदाभेद इस मन्त्रमें विवृत है। जहां महादेवरूपी परम पुरुषके लोकातीतभावमय स्वरूपकी अनुभूति होती है, वहां महादेव-आलिङ्गिता, हेमवर्णा हिमालय-

तनयः महादेवोका लोकातीतस्वरूप अवश्य अनुभव-गम्य होगा। जो उमा स्थूलरूप धारण करके अपने यावत् शक्तियों-के विकाश द्वारा स्थूलप्रपंचका सृष्टि-स्थिति-लय करती हैं, जो उमा अपने सूक्ष्मरूप द्वारा ब्रह्मा-विष्णु-महेशरूपी त्रिमूर्ति-को शक्ति प्रदान करती हैं, जो उमा अपने कारणरूपमें ब्रह्मा-विष्णु-महेशकी जननी बनकर महादेवआलिंगित दशामें सगुण ब्रह्मके रूपको प्रकट कराती हैं, वह उमादेवी ही अपनी तुरीयदशामें ब्रह्मके स्वस्वरूपकी उप-लब्धि कराकर ब्रह्ममें लय हो जाती हैं। ब्रह्मके सगुण अव-स्थामें जो कुछ विशेषत्वकी अनुभूति होती है, वह ब्रह्मप्रकृति उमासे ही होती है। इस कारण इस मन्त्रमें यक्षके रूपका कोई विश्लेषण न करके केवल उमादेवीको ही हेमवर्ण करके वर्णन किया है। ब्रह्मप्रकृति होनेसे उमादेवी स्त्रीरूपा हैं और अस्ति एवं भातिके विचारसे सत् और चित्की पृथक् पृथक् सत्ता अनुभव करानेवाली होनेके कारण उमादेवी हैमवती हैं। जब सत्, चित् और आनन्दकी अद्वितीय एक सत्ता विद्यमान रहती है, वही स्वस्वरूप है, परन्तु जब सत् और चित्की पृथक् पृथक सत्ता ब्रह्मप्रकृति प्रकट करती है, तभी ब्रह्मानन्द विला-सरूपी जगत् प्रकट होता है। जगत्को प्रकाशित करनेके लिये जो भर्ग (तेज) प्रकट होता है, उसका आधिभौतिक स्वरूप हेमवर्ण है, सूर्य्यमण्डल उसकी प्रतिकृति है। यही कारण है कि, पुराण और तन्त्रादि शास्त्रोंमें गले हुए सुवर्णके सदृश

उसका वर्णन किया गया है। ब्रह्मोपासना प्रकृतिके आश्रयसे ही हो सकती है और उसी प्रकार ब्रह्मकी जिज्ञासा पराविद्याकी कृपाके विना सुसिद्ध नहीं हो सकती है। इस कारण देवराज इन्द्रकी उमादेवीसे जिज्ञासा हुई थी ॥२५॥११॥२६॥१२॥

इति केनोपनिषद्के तृतीय खण्डकी उपनिषत्-
सुबोधिनी टीका समाप्त।

चतुर्थः खण्डः ।

——:०:——

सा ब्रह्मेति होवाच । ब्रह्मणो वा एतद्विजये महीयध्वमिति, ततो हैव विदाञ्चकार ब्रह्मेति ॥२७॥१॥

सा (विद्या) ह उवाच—[एतत्] ब्रह्म इति । ब्रह्मणः वै विजये [यूयम्] एतत् (एवं) महीयध्वं (महिमानं प्राप्नुथ) इति । ततः (तद् वाक्यात्) ह एव [एतत्] ब्रह्म इति विदाञ्चकार (इन्द्र इति शेषः) ॥ २७ ॥

मन्त्रार्थ ।

उमाने इन्द्रको कहा कि, यह ब्रह्म है । ब्रह्मके विजयमें तुमलोग इसी प्रकार महिमा लाभ करो । तब इन्द्रने समझा कि, वे यक्ष ब्रह्म ही थे ॥ २७ ॥ १ ॥

शाङ्कर-भाष्यम् ।

सा ब्रह्मेति होवाच । ह किल ब्रह्मणः वै ईश्वरस्यैव विजये ईश्वरेणैव जिता असुराः यूयं तत्र निमित्तमात्रम् । तस्यैव विजये यूय महीयध्वं महिमानं प्राप्नुथ । एतदिति क्रियाविशेषणार्थम् । मिथ्याभिमानस्तु युष्माकमयम्—अस्माकमेवायं विजयोऽस्माकमेवाय महिमेति । ततः तस्मात् उमावाक्यात् ह एव विदाञ्चकार ब्रह्मेति इन्द्रः अवधारणात् ततो हैवेति न स्वातन्त्र्येण ॥ २७ ॥ १ ॥

भाष्यानुवाद ।

उस उमाने कहा कि, वे ब्रह्म हैं, तथा यह विजय निश्चय ही उसी ब्रह्मका किया हुआ विजय है; अर्थात् वास्तवमें ईश्वर-ने ही असुरोंको पराजित किया था, तुम लोग उसमें केवल निमित्त मात्र थे। उन्हींके विजयमें तुम लोग इस प्रकारकी महिमा अनुभव करते हो। फलतः "हमारा ही यह विजय है" "हमारी ही यह महिमा है" इस प्रकार जो तुम लोगोंका अभिमान है, सो मिथ्या है। उस उमाके वाक्यसे ही इन्द्रने समझा था कि, यक्ष ब्रह्म ही थे;—परन्तु अपने बुद्धि-बलसे वे समझनेमें समर्थ नहीं हुए थे ॥ २७ ॥ १ ॥

टीका ।

अलौकिक महान् और अभूतपूर्वरूपसे श्रीभगवान् सगु-णरूपमें आविर्भूत हुए थे। वह रूप उस समय देवताओंके बुद्धिगम्य न था; इसी भावको समझानेके लिये ब्रह्मको यक्ष नाम दिया गया है। ब्रह्मका स्वरूप अनुमानगम्य नहीं हो सकता; क्योंकि, देखी हुई वस्तुका अनुमान होता है। ब्रह्मका स्वरूप प्रत्यक्षगम्य भी नहीं है; क्योंकि, इन्द्रियातीत तथा मन, बुद्धिसे अतीत पद इन्द्रियद्वारा कदापि प्रत्यक्ष नहीं हो सकता है। अतः वेदान्तका यही सिद्धान्त है कि, ब्रह्मशक्ति विद्यारूपिणी उमाकी कृपासे निर्विकल्पसमाधिमें ब्रह्मको प्रत्यक्ष-अनुभूति आत्मज्ञानीको होती है। इसी कारण इस मन्त्रमें महादेवीके उपदेश द्वारा देवराज इन्द्रको रज्जुमें सर्प-

भ्रमकी तरह भगवत्स्वरूपमें यक्षका भ्रम दूर हुआ था। तब देवराज इन्द्रने ज्ञानजननी विद्याकी सहायतासे हृदयङ्गम किया था कि, देवासुर-संग्राममें विजयकी महिमा अल्पशक्ति-विशिष्ट देवताओंकी नहीं है, किन्तु वह महिमा सर्वशक्तिमान् ब्रह्मकी है ॥ २७ ॥ १ ॥

तस्माद्वा एते देवा अतितरा-
मिवान्यान् देवान् यदग्निर्वायुरिन्द्रः ।
ते ह्येनन्नेदिष्ठं पस्पर्शुस्ते ह्येनत्
प्रथमो विदाञ्चकार ब्रह्मेति ॥ २८ ॥ २ ॥

यत् (यस्मात्) अग्निः, वायुः, इन्द्रः, ते हि एनत् (एतत् ब्रह्म) नेदिष्ठम् (अन्तिकस्थ) पस्पर्शुः (विदितवन्तः) [यस्मात् च] ते हि प्रथमः (प्रथमाः सन्तः) एनत् (एतत्) ब्रह्म इति विदाञ्चकार (विदाञ्चक्रुः विज्ञातवन्तः)। तस्मात् (कारणात्) एते वै देवाः (इन्द्रादयः) अन्यान् देवान् अतितरा (अतिशेरते) इव (एव) ॥ २८ ॥ २ ॥

मन्त्रार्थ ।

अग्नि, वायु, इन्द्र इन तीनो देवताओंने नेदिष्ट अर्थात् समीपवर्ती ब्रह्मको स्पर्श किया था, अर्थात् उनके सान्निध्य-को प्राप्त किया था, और उन लोगोंने ही प्रथम उनको ब्रह्मरूपसे जाना था, इसी कारण उन्होंने अन्यान्य देवताओंको अतिक्रम किया था ॥ २८ ॥ २ ॥

शाङ्कर-भाष्यम् ।

यस्मात् अग्निवाय्विन्द्रा एते देवा ब्रह्मणः संवाद-दर्शनादिना सामीप्यमुपगताः, तस्मात् ऐश्वर्य्यगुणैः अतितरामिव शक्तिगुणादि-महाभाग्यैः अन्यान् देवान् अतितरां अतिशयेन शेरत इव एते देवाः । इव शब्दोऽनर्थकोऽवधारणार्थो वा । यत् अग्निः वायुः इन्द्रः ते हि देवा यस्मात् एनत् ब्रह्म नेदिष्टम् अन्तिकतमं प्रियतमं पस्पर्शुः स्पृष्टवन्तो यथोक्तैः ब्रह्मणः संवादादिप्रकारैः; ते हि यस्माच्च हेतोः एनत् ब्रह्म प्रथमः—प्रथमाः प्रधानाः सन्त इत्येतद् विदाञ्चकार—विदाञ्चक्रुरित्येतद्ब्रह्मेति॥२८॥२॥

भाष्यानुवाद ।

अग्नि, वायु और इन्द्र, इन तीनों देवताओंने कथनोपकथनादि द्वारा ब्रह्मका सामीप्य लाभ किया था, इसी कारण ऐश्वर्य्यगुणादि अर्थात् शक्ति, गुण और महिमादि सौभाग्योंके द्वारा उन लोगोंने अन्यान्य देवताओंको अतिक्रमण किया था, अर्थात् सब देवताओंमें प्रधान हुए थे। श्रुतिका 'इव' शब्द अर्थरहित है, अथवा सार्थक हो तो वह निश्चयात्मक समझना चाहिये। अग्नि, वायु और इन्द्र, इन देवताओंने पूर्वोक्त प्रकारसे ब्रह्मको कथनोपकथनादि द्वारा स्पर्श किया था, उन्हीं लोगोंने प्रधानतया यक्षको ब्रह्म करके जाना था; इसी कारण उन लोगोंने अन्यान्य देवताओंमें प्राधान्य-लाभ किया था ॥२८॥२॥

टीका ।

देवलोकवासी, कर्मके चालक अधिदैवगण देवता कहाते हैं। इसी प्रकार ज्ञानके चालक देवतागण नित्य ऋषि कह-

लाते हैं। इसी प्रकार स्थूल शरीरके चालक और रक्षक पितर कहाते हैं। दैवीमीमांसा-दर्शनमें इनका विस्तारित वर्णन पाया जाता है। नित्यपदधारी देवता अनेक हैं। उनमेंसे तैंतीस मुख्य पद माने जाते हैं। उन तैंतीसोंमें इस गाथाके अनुसार इन तीनोंकी प्रधानता हुई। इस स्थलपर कई प्रकारकी शंकायें जिज्ञासुके हृदयमें हो सकती हैं यथा—क्या ब्रह्मा, विष्णु, महेशसे भी इनकी प्रधानता है? इन तैंतीस देवताओंके साथ इन्द्रादि देवताओंका क्या सम्बन्ध है? इन तीनोंका प्राधान्य किस प्रकार माना जाय? इस श्रेणीकी शंकाओंका समाधान यह है कि, ब्रह्मा-विष्णु-महेश एक ब्रह्माण्डके अधीश्वर हैं। साधारण देवताओंके साथ इनकी गणना नहीं हो सकती है। तैंतीस देवताओंके साथ इन्द्रादि तीनों देवताओंके सम्बन्ध-निर्णयके विषयमें शास्त्रोंमें कहीं कहीं मतभेद पाया जाता है, परन्तु वे इन तैंतीसके अन्तर्गत माने जाते हैं। मतभेद श्रेणीविभागमें है और इनका प्राधान्य शक्तिविचारसे है जैसा कि पहले कहा गया है। स्पर्शके विषयमें शंकासमाधानके लिये कहा जारहा है कि, स्पर्श तीन प्रकारका होता है, मनका स्पर्श, शक्तिका स्पर्श और शरीरका स्पर्श। शरीरके स्पर्शसे शक्तिका स्पर्श और शक्तिके स्पर्शसे मानसस्पर्श उत्तरोत्तर श्रेष्ठ है। शरीरसे शरीर छूनेसे शारीरिक स्पर्श होता है। शरीर न छूनेसे और निकटस्थ होनेसे शक्तिका स्पर्श होता है। इसी कारण देवमन्दिरमें यदि नीच व्यक्ति जावे,

और वह मूर्त्तिको शरीरसे स्पर्श भी न करे तौ भी मन्दिरकी शुद्धि की जाती है। इसी प्रकार साधुके पास जाकर यदि उसको स्पर्श भी न करे और साधु करके भी न जाने तौभी उपकार होता है। यही स्पर्शास्पर्शविज्ञानका रहस्य है। मानसिक स्पर्श तो सर्वोपरि है। मनके द्वारा भक्त मृत्युलोकमें बैठे हुए विष्णुलोकमें पहुंचकर विष्णुचरण-स्पर्श करके पवित्र हो सकता है। इन तीनों देवताओंका शरीरसे स्पर्श न होनेपर भी ब्रह्म-विग्रहसे अन्य दो प्रकारका स्पर्श हुआ था, यह मानना ही पड़ेगा ॥ २८ ॥ २ ॥

तस्माद्वा इन्द्रोऽतितरा-
मिवान्यान् देवान्;
स ह्येनन्नेदिष्ठं पस्पर्श, स
ह्येनत् प्रथमो विदाञ्चकार ब्रह्मेति॥२९॥३॥

सः (इन्द्रः) हि (यतः) एनत् नेदिष्ठं (ब्रह्म) पस्पर्श, हि (यतः) सः प्रथमः (प्रधानः सन्) एनत् (एतत् यक्षं) ब्रह्म इति विदाञ्चकार, तस्मात् इन्द्रः वै अन्यान् देवान् अतितराम् (अतिशेते) इव (एव) ॥ २९ ॥ ३ ॥

मन्त्रार्थ ।

इन्द्रने ही उस सन्निकटस्थ ब्रह्मको स्पर्श किया था, एवं पहले उसको ब्रह्मरूपसे जाना था, इसी कारण उन्होंने अन्यान्य देवताओंको अतिक्रम किया था ॥ २९ ॥ ३ ॥

शांकर-भाष्यम् ।

यस्मात् अग्निवायू अपि इन्द्रवाक्यादेव विदाञ्चक्रतुः, इन्द्रेण हि उमावाक्यात् प्रथमं श्रुतं ब्रह्मेति, अतः तस्माद् वै इन्द्रः अतितराम् अतिशयेन शेते इव अन्यान् देवान् । स ह्येनत् नेदिष्ठं पस्पर्श, यस्मात् स ह्येनत् प्रथमो विदाञ्चकार ब्रह्मेति उक्तार्थं वाक्यम् ॥ २९ ॥ ३ ॥

भाष्यानुवाद ।

अग्नि और वायु दोनो इन्द्रके द्वारा ही अवगत हुए थे, क्योंकि, इन्द्रने ही प्रथम उमा-वाक्यद्वारा ब्रह्मकी वात सुनी थी। इन्द्रने इस सन्निकटस्थ ब्रह्मको स्पर्श किया था और प्रथम उनका ब्रह्मत्व समझा था, इसी कारण ही इन्द्र अन्यान्य देवताओंमें श्रेष्ठ हुए थे। अवशिष्ट अंशकी व्याख्या पहले ही हो चुकी है ॥ २८ ॥ ३ ॥

टीका ।

अग्निदेवता और वायुदेवताकी अपेक्षा इन्द्रदेवने विश्वास, अध्यवसाय और धैर्य्यकी अधिकता अपने चरित्रमें दिखाई थी एवं इसलिये उन्होने जगज्जननी उमादेवीकी कृपा प्राप्त की थी; अतएव उनके वृद्धत्वके विषयमें सन्देह नहीं रहा। वृद्धत्व अर्थात् श्रेष्ठत्वके विषयमें शास्त्रोमें अनेक प्रमाण मिलते हैं, यथा—ज्ञानवृद्ध, तपोवृद्ध, पर्य्यायवृद्ध, शीलवृद्ध, वर्णवृद्ध, आश्रमवृद्ध, वयोवृद्ध आदि। इसी प्रकारके वृद्धत्वके विचारसे व्यक्तिका महत्त्व अपेक्षाकृत प्रतिपादित होता है। वायुदेव

और अग्निदेवकी अपेक्षा इस समय इन्द्रदेवमें तपस्याका आधिक्य होनेके कारण और श्रीउमादेवीकी कृपा प्राप्त करनेके कारण उनके श्रेष्ठत्वके प्रतिपादनमें सन्देह नहीं रहा। परन्तु अन्य प्रकारका वृद्धत्व अन्य विचारसे अपेक्षित रहनेसे मन्त्रमें "इव" शब्दका प्रयोग हुआ है। वेदमें वृथा शब्द-प्रयोग सम्भव नहीं है। उदाहरणसे समझ सकते हैं कि, अग्निदेव ब्राह्मण हैं और इन्द्रदेव क्षत्रिय हैं। इस कारण वर्णवृद्धत्वके विषयमें मतभेद अवश्य रहेगा। इसी श्रेणीका मतभेद अन्य देवताओंके साथ रहनेके कारण इस मन्त्र तथा पूर्व मन्त्रमें "इव"शब्दका प्रयोग हुआ है ॥ २९ ॥ ३ ॥

तस्यैष आदेशो यदेतद्विद्युतो व्यद्युतद् आ इतीन्
न्यमीमिषद् आ इत्यधिदैवतम् ॥ ३० ॥ ४ ॥

तस्य (ब्रह्मणः) एष आदेशः (उपमोपदेशः) यत् एतत् विद्युतः (तडितः) व्यद्युतत् (विद्योतनं कृतवत्) आ (इव) इति, [यच्च चक्षुः] न्यमीमिषद् (निमेषं कृतवत्) आ (इव) इत् (च) इति अधिदैवतम् (देवता विषयकमिदमुपमानम्) ॥ ३० ॥ ४ ॥

मन्त्रार्थ।

उस ब्रह्मके विषयमें उपदेश यह है कि, यह जो विद्युत्का स्फुरण है एवं यह जो चक्षुका निमेष है, ब्रह्मका विकाश तथा प्रतीति तदनुरूप है। यह देवताविषयक उपमान (सादृश्य) होनेसे 'अधिदैवत' नामसे प्रसिद्ध है ॥ ३० ॥ ४ ॥

शाङ्कर-भाष्यम् ।

तस्य प्रकृतस्य ब्रह्मण एषः आदेशः; उपमोपदेशः, निरुपमस्य ब्रह्मणो येन उपमानेन उपदेशः, सोऽयमादेश इत्युच्यते। किं तत् ? यदेतत् प्रसिद्धं लोके विद्युतः व्यद्युतत् विद्योतनं कृतवदिति, एतदनुपपन्नं इति विद्युतो विद्योतनं इति कल्प्यते। आ इत्युपमार्थे। विद्युतो विद्योतनमिवेत्यर्थः। "यथा सकृद् विद्युतम्" इति श्रुत्यन्तरे च दर्शनात्। विद्युदिव हि सकृदात्मानं दर्शयित्वा तिरोभूतं ब्रह्म देवेभ्यः। अथवा विद्युतः 'तेजः' इत्यध्याहार्य्यम्। व्यद्युतत् विद्योतितवत्, आ इव। विद्युतस्तेजः सकृत् विद्योतितवदिव इत्यभिप्रायः। इति शब्द आदेशप्रतिनिर्देशार्थ–इत्ययमादेश इति। इच्छब्द समुच्चयार्थः। अयं चापरस्तस्यादेशः। कोऽसौ ? न्यमीमिषत्। यथा चक्षुः न्यमीमिषत् निमेषं कृतवत्। स्वार्थे णिच्। उपमार्थ एव आकारः। चक्षुषो विषयं प्रति प्रकाश-तिरोभाव इव चेत्यर्थः। इति अधिदैवतम्—देवता-विषयं ब्रह्मण-उपमान-दर्शनम् ॥ ३० ॥ ४ ॥

भाष्यानुवाद ।

उस प्रस्तावित ब्रह्मके विषयमें सादृश्यमूलक-आदेश इस प्रकार है,—निरुपम या उपमारहित ब्रह्मको जो उपमा द्वारा निर्देश करना है, उसको आदेश कहते हैं। वह आदेश कैसा है? (सो कहते हैं) संसारमें विद्युत्का प्रकाश है, ब्रह्म भी उसी प्रकार है "ब्रह्म एकवार विद्युत्के प्रकाशके समान है" इस श्रुतिमें भी ब्रह्मका इसी प्रकार प्रकाश ही प्रतिपादित हुआ है। ब्रह्म भी विद्युतके

समान एक वार देवताके निकट अपनेको दिखाकर अन्तर्हित हो गये थे। अथवा विद्युत् शब्दके बाद एक 'तेज' पद योग करना होगा। "व्यद्युतत्" प्रकाशमान् हुए थे। "आ" का अर्थ सादृश्य है। इसका सम्मिलित अर्थ इस प्रकार है,—वे मानो वैद्युतिक तेजके समान एकवार प्रकाशमान् हुए थे। श्रुतिके 'इति' शब्दका अर्थ आदेशके प्रति निर्देश करना है अर्थात् यही वह आदेश है। 'इत्' शब्दका अर्थ समुच्चय है। अर्थात् उस विषयमें यह एक और आदेश है, वह आदेश क्या है? (कहते हैं-) चक्षु जिस प्रकार निमेष करता है, उसी प्रकार है। 'आ' शब्द उपमा-सूचक है। तात्पर्य यह है कि, रूपादि विषयोंमें चक्षुका जिस प्रकार प्रकाश और तिरोभाव है, ब्रह्मका प्रकाश और तिरोभाव उसी तरहसे है। देवता-सम्बन्धसे उपमान (सादृश्य) प्रदर्शित होनेसे ब्रह्मके इस आदेशको "अधिदैवत" आदेश या उपदेश कहते हैं ॥२०॥४॥

टीका।

इस मन्त्रमें आदेशप्रसङ्ग, विद्युत्प्रसङ्ग, और आधिदैवत प्रसङ्ग समझने योग्य है। निर्गुणसे सगुणत्वका भाव प्रकाशित होनेपर सबसे प्रथम आकाशकी सृष्टि होनेसे प्रथम प्रणव और प्रणवसे शब्दमयी सृष्टिका सम्बन्ध विज्ञान-सम्मत है। अन्तर्दृष्टिसम्पन्न ज्ञाननेत्र-विशिष्ट भक्त भगवान्को तीन रूपमें दर्शन करते हैं। ब्रह्म उनका अध्यात्मरूप है, ईश्वर उनका अधिदैवरूप है और विराट उनका अधिभूतरूप है। विराट-

रूप ज्ञाननेत्र द्वारा दर्शनीय है। सगुण ईश्वररूप अन्तर्दृष्टिसे दर्शन करने योग्य होनेपर भी श्रीभगवान्‌की कृपामयी-भक्ति सापेक्ष है और उनका अध्यात्म ब्रह्मरूप अपरोक्षानुभूतिमें अनुभव करने योग्य है। श्रीभगवान् जब भक्तोंपर प्रसन्न होते हैं, तो विशेष-विशेषरूपमें दर्शन भी देते हैं, वही कृपा देवताओंपर भी हुई थी। परन्तु जैव अहंतत्वके विस्तारसे अविद्याजनित मोहके कारण वे उनको पहचान नहीं सके थे। पीछे पराविद्या उमादेवीकी सहायतासे इन्द्रदेवको उस रूपमें भगवान्‌के प्रकट होनेका निश्चय हुआ था। शब्दमयी सृष्टि प्रारम्भमें होनेसे प्रतिकल्पके प्रारम्भमें वेदका प्राकट्य होता है। वेद ही प्रधान आदेश वाक्य है। अन्तर्दृष्टिसम्पन्न योगियोंने आदेशको तीन रूपसे वर्णन किया है। भक्त-मनोमन्दिर-विहारी भगवान् अपने भक्तोंके हृदयमें नित्य विराजमान रहकर जो इङ्गित किया करते हैं, वह आदेशका नित्य और अध्यात्म-स्वरूप है। कल्पके प्रारम्भमें ऋषियोंके अन्तःकरणमें वेदका प्रादुर्भाव होना और समय समयपर स्मृति, पुराण, तन्त्रादि शास्त्रोंका प्राकट्य होना आदेशका अधिदैव स्वरूप है। और समय समयपर भक्तोंके कल्याणार्थ जो प्रत्यक्ष दैव-वाणी श्रवणेन्द्रिय गोचर होती है, वह आदेशका अधिभूतस्वरूप है। ईश्वर-स्वरूपनिर्णयार्थ यह वैदिक आदेश है। इस मन्त्रमें भगवत्-स्वरूपके तेजोमय होनेके कारण विद्युतका उदाहरण और क्षणकालव्यापी होनेसे निमेषका उदाहरण दिया गया

है। यदि जिज्ञासुको यह शंका हो कि, केवल विद्युत्के उदाहरणसे ही क्षणकालत्व भी सिद्ध हो सकता था ? इस श्रेणीके शंकाके समाधानमें कहा जाता है कि, साधारण उदाहरण और औदाहरणमें सम्बन्ध स्थापन करनेके लिये एक ही प्रधान लक्षण लिया जाता है। इस कारण इस मन्त्रमें दो लक्षणोंके लिये दो उदाहरण दिये गये हैं। इस मन्त्रके "अधिदैवत" शब्दका भावार्थ अतिरहस्यमय है। प्रकृति जड़ा तथा पुरुष अपेक्षित होनेके कारण प्रकृतिका यावत् परिणाम परम पुरुषके लिये और परमपुरुषके आश्रयसे ही होता है। यह सांख्य प्रवचनका अकाट्य सिद्धान्त है। इसी वैज्ञानिक सत्यके अनुसार सृष्टिकी यावत् प्राकृतिक क्रिया विना चेतनसत्ताकी सहायताके सम्पादित नहीं हो सकती है। वही चेतनसत्ता अधिदैव कहाती है। उदाहरणरूपसे समझ सकते हैं कि, प्रत्येक नदी, पर्वतादि अथवा उद्भिज्ज, स्वेदजादि भूत-संघकी श्रेणी अथवा तीर्थादि नित्य पार्थिव पीठकी प्राकृतिक शक्तिके विकाशके साथ ही साथ जिस देवताविशेषका सम्बन्ध स्थापित होता है, वही उसका अधिदैव कहाता है। भगवान्के सगुणरूपसे सम्बन्ध होनेके कारण "अधिदैवत" शब्दका प्रयोग इस मन्त्रमें हुआ है ॥ ३० ॥ ४ ॥

अथाध्यात्मम् । यदेतद्‌ गच्छतीव च मनोऽनेन चैतद्‌पस्मरत्यभीक्ष्णं संकल्पः ॥ ३१ ॥ ५ ॥

अथ (अनन्तरं) अध्यात्म (प्रत्यगात्म-विषयः आदेशः-उच्यते,-) मनः यत् एतत् (ब्रह्म) गच्छति (विषयीकरोति) इव। अनेन (मनसा) एतत् (ब्रह्म) अभीक्ष्णं (भृशं, निरन्तरं) उपस्मरति (समीपतः स्मरति) [साधकः]। एष एव [ब्रह्मविषयकः] संकल्पः ॥ ३१ ॥ ५ ॥

मन्त्रार्थ।

अनन्तर ब्रह्मविषयक अध्यात्म आदेश कहा जाता है,— मन मानो ब्रह्मके निकट गमन करता है। साधक इस मनके द्वारा निरन्तर अतिशयरूपसे ब्रह्मको स्मरण किया करता है। ब्रह्मके विषयमें इसी प्रकार मानस-चिन्ता—संकल्प करना होता है ॥ ३१ ॥

शाङ्कर-भाष्यम्।

अथ अनन्तरं अध्यात्मं प्रत्यगात्म-विषय आदेश उच्यते,—यदेतत् गच्छतीव च मनः एतद् ब्रह्म ढौकत इव विषयीकरोतीव। यच्च अनेन मनसा एतद् ब्रह्म उपस्मरति समीपतः स्मरति साधकः, अभीक्ष्णं भृशं, संकल्पश्च मनसो ब्रह्मविषयः, मन उपाधिकत्वाद्धि मनसः सकल्प-स्मृत्यादि-प्रत्ययैः अभिव्यज्यते ब्रह्म विषयीक्रियमाणमिव। अतः स एष ब्रह्मणोऽध्यात्ममादेशः। विद्युन्निमेषणवत् अधिदैवतं द्रुतप्रकाशन-धर्मि, अध्यात्म च मनः प्रत्यय-समकालाभिव्यक्तिधर्मि इत्येष आदेशः। एवमादिश्यमानं हि ब्रह्म मन्दबुद्धिगम्यं भवतीति ब्रह्मण आदेशोपदेशः न हि निरूपाधिकमेव ब्रह्म मन्दबुद्धिभिः आकलयितुं शक्यम् ॥३१॥५॥

भाष्यानुवाद।

अनन्तर अध्यात्म अर्थात् प्रत्यगात्म-विषयक आदेश

(उपदेश) कहा जाता है—यह मन मानो ब्रह्मको अपना विषय बना लेता है, साधक व्यक्ति इसी मनके द्वारा सन्निकट भावसे ब्रह्मका वारवार स्मरण करता है। मन ही ब्रह्मका उपाधि है, मनके संकल्प और स्मृति आदि प्रत्यय या ज्ञानके द्वारा ही ब्रह्म अभिव्यक्त होते है; इसी कारण मनमें ब्रह्मके विषयमें ही संकल्प अथवा इसी प्रकार चिन्ता करनी होती है, यही ब्रह्मके विषयमें अध्यात्म उपदेश है। अधिदैवत आदेशमें कहा गया है कि, विद्युत् एवं निमेषकी तरह आत्मप्रकाश भी अतिद्रुत अथवा क्षणस्थायी है; एवं अध्यात्म उपदेशमें मनोवृत्तिके साथ साथ आत्माकी अभिव्यक्ति कही गयी; यही दोनो आदेशोंमें विशेषता है। ब्रह्म दुर्ज्ञेय होनेपर भी उक्त प्रकार आदेश द्वारा मन्दमति व्यक्तिगणके भी बुद्धिगम्य हो सकते हैं; इसी उद्देश्यसे ही इस प्रकार आदेशका उपदेश किया गया; नहीं तो मन्दबुद्धिसम्पन्न मनुष्य निरूपाधिक ब्रह्मको कदापि बुद्धिगम्य करनेमें समर्थ नहीं हो सकते हैं॥३१॥५॥

टीका।

जिस प्रकार भागवत श्रीभगवान्‌को अध्यात्म, अधिदैव और अधिभूत भावसे ब्रह्म, ईश और विराट्, इस प्रकार त्रिविधरूपमें दर्शन करते हैं जैसा कि, पहले कहा गया है, उसी मौलिक सिद्धान्तके अनुसार कारणब्रह्मकी रीतिपर कार्य्य ब्रह्मके सब विभाग भी त्रिविध भावमय हैं। इसी सिद्धान्तके अनुसार आदेश सम्बन्धीय अध्यात्मतत्त्व इस मन्त्रमें

प्रकाशित है। इस मन्त्रमें "मन" शब्द अन्तःकरणवोचक है। अन्तःकरणके चार भेद हैं, जिनमेंसे अहंकार और चित्त गौण है तथा मन और बुद्धि मुख्य है। मन और बुद्धिमेंसे अध्यात्मतत्त्व-प्रसङ्गसे बुद्धि ही माननीय है। इसी कारण इस मन्त्रमें "मन" शब्दका प्रयोग बुद्धि-वाचक ही है। इस मन्त्रमें जब "संकल्प" शब्दका प्रयोग है, तो मन और बुद्धिको और भी स्पष्ट करनेकी आवश्यकता है। मनोविज्ञानके ज्ञाता योगिगण मनकी दो अवस्थाको भली भांति जानते हैं। जब इन्द्रियासक्तिमूलक संकल्प होता है, तब वह मन अशुद्ध मन कहाता है और जब आत्मासे युक्त होकर मन सद्भावसे भावित होता है, तब वह शुद्ध मन कहाता है। शुद्ध मन ही ब्रह्मस्पर्शके द्वारा सात्त्विक बुद्धिमें परिणत होकर ब्रह्मावगाही बन जाता है। इस विज्ञानको अन्य प्रकारसे भी समझ सकते हैं कि, बुद्धि, मन, चित्त और अहंकार, अन्तःकरणको ये चार अवस्थाएं हैं, अथवा इन चारोंको क्रिया भी कह सकते हैं। अहंतत्त्वप्रधान अवस्था अहंकार, संस्कारकी अवस्था चित्त, संकल्पमयी अवस्था मन और विचारमयी अवस्था बुद्धि कहाती है। दूसरी ओर मन और बुद्धिके विषयमें विचारने योग्य विषय यह है कि, यद्यपि मनका साधारण कार्य्य संकल्प करना है और बुद्धिका साधारण कार्य्य विचार करना है, परन्तु वस्तुतः विषयावगाही अवस्था मन और ब्रह्मावगाही अवस्था ही बुद्धि कहाती है।

क्योंकि, आत्माके सान्निध्यहेतु ही बुद्धि प्रथम अवस्थामें सदसत् विचार करनेमें समर्थ होती है और उन्नत अवस्थामें पूर्णरूपसे ब्रह्मावगाही वन जाती हैं। इसी उन्नतबुद्धिका सम्बन्ध पूर्वकथित शुद्ध मनके साथ है, ऐसा समझना उचित है। इस अध्यात्मरहस्यके समझनेके लिये "तत्वमसि" "अहं ब्रह्मास्मि" आदि महावाक्योंकी साधनशैली शान्त चित्तसे विचारणीय है। इन महावाक्योंके जप और उनकी अर्थभावना संकल्पमूलक है यह मानना ही पड़ेगा। क्रमशः वह तत्त्वज्ञानी साधक मन्त्रार्थके अनुसार ब्रह्मसंकल्पको दृढ़ करता हुआ मनोवृत्तिनिरोध द्वारा जब अपने अन्तःकरणको ब्रह्मावगाही वना डालता है, तब वह भाग्यवान् साधक अपने अन्तःकरणमें प्रथम शुद्ध बुद्धिकी सहायतासे ब्रह्मकी परोक्षानुभूति और तदनन्तर मनोनाश द्वारा ब्रह्मकी अपरोक्षाभूति प्राप्त करके कृत-कृत्य हो जाता है। इस अवस्थाका कार्य्य ब्रह्म चिन्तन है और फल ब्रह्मीभूत होना है ॥ ३१ ॥ ५ ॥

तद्ध तद्वनं नाम तद्वनमित्युपासितव्यम् ।
स य एतदेवं वेद, अभि हैनं सर्वाणि भूतानि संवाञ्छन्ति॥३२॥

तत् (ब्रह्म) ह (किल) तद्वनं (तस्य प्राणिजातस्य वनं—सेव्य संभजनीयं) नाम (प्रख्यातम्)। [तस्मात् ब्रह्म] 'तद्वन' इति उपासितव्यं । सः यः (कश्चित) एतत् (यथोक्तं ब्रह्म) एवं (यथोक्तप्रकारेण) वेद (उपास्ते) एनम् (उपासकं) ह (किल) सर्वाणि भूतानि अभिसंवान्छन्ति (प्रार्थयन्ते) ॥ ३२ ॥

मन्त्रार्थ ।

पूर्वोक्त ब्रह्म ही वन अर्थात् प्राणियोंके भजनीय हैं; इसी कारण "तद्वन" रूपसे ही उनकी उपासना करनी चाहिये ! जो कोई उनको उक्त प्रकारसे जानते हैं, सारे प्राणिपात्र ही उनके निकट अभीष्टकी प्रार्थना करते हैं ॥ ३२ ॥ ६ ॥

शाङ्कर-भाष्यम् ।

किंच, तद् ब्रह्म ह किल तद्वनं नाम; तस्य वनं तद्वनं, तस्य प्राणिजातस्य प्रत्यगात्मभूतत्वात् वनं वननीयं संभजनीयम् । अतः तद्वनं नाम-प्रख्यातं ब्रह्म तद्वनमिति यतः, तस्मात् 'तद्वन' इत्यनेनैव गुणाभिधानेन उपासितव्यम् चिन्तनीयमिति । अनेन नाम्ना उपासकस्य फलमाह—सः यः कश्चित् एतत् यथोक्त ब्रह्म एव यथोक्तगुणं वेद उपास्ते; अभि ह एनम् उपासकं सर्वाणि भूतानि अभिसवाञ्छन्ति ह प्रार्थयन्ते एव यथा ब्रह्म ॥ ३२ ॥ ६ ॥

भाष्योनुवाद ।

अपि च, वे ब्रह्म ही 'तद्वन' नामसे प्रसिद्ध हैं । अर्थात् तत् अर्थ उसका एवं वनका अर्थ भजनीय—सेव्य है, ब्रह्म सब प्राणिमात्रके आत्मस्वरूप हैं इस कारण वे सबके ही सेव्य हैं । क्योंकि ब्रह्म उसी नामसे प्रसिद्ध हैं, इस कारण उनका गुण-व्यञ्जक 'तद्वन' रूपसे ही उनकी उपासना करनी चाहिये । इस नामसे उपासना करनेसे उपासकको जो फल प्राप्त होता है, सो कहा जाता है,—जो कोई व्यक्ति पूर्वोक्त ब्रह्मको यथोक्त गुण-सम्पन्न रूपसे जानते हैं; प्राणिगण जिस प्रकार ब्रह्मके

निकट प्रार्थना किया करते हैं, उसी प्रकार उनके निकट भी अपने अपने अभीष्टकी प्रार्थना करते हैं ॥ ३२ ॥ ६ ॥

टीका ।

उपासनाका तात्पर्य समीपस्थ होना है। जीव अशुद्ध मनके द्वारा विषयाकार-वृत्तिको सर्वदा धारण करता हुआ आत्मासे दूर रहता है। एकमात्र उपासनाके द्वारा ही भागवत जन विषय-सम्बन्धको छोड़कर ब्रह्मसम्बन्धको प्राप्त कर सकते हैं। जब भागवत विषयसम्बन्धको त्याग देता है, तब उसका अशुद्ध मन क्रमशः शुद्ध होता जाता है अर्थात् जितना जितना वह विषय-चिन्ताको छोड़कर ब्रह्मचिन्ताका अवलम्बन करता जाता है, उतना उतना ही वह ब्रह्म-सान्निध्यको प्राप्त करता हुआ अपने अन्तःकरणको ब्रह्मावगाहीरूपमें परिणत करता जाता है। वे सर्वशक्तिमान् हैं क्योंकि ब्रह्मकी ब्रह्मशक्ति ही जगत्की सृष्टि-स्थितिलय करनेवाली है। जब भगवान् सर्वशक्तिमान् हैं, तो उनकी उपासना द्वारा कुछ भी अप्राप्य नहीं रह सकता है। भगवान् और भागवतमें अभेदत्व हो जानेके कारण ब्रह्मशक्ति उमाकी कृपा प्राप्त करके भागवत भी विपुल-शक्तिमान् बन सकता है। जब भागवतका अन्तःकरण उपासनाके बलसे ब्रह्मावगाही बन जाता है, उस समय भगवान्के लक्षण भागवतमें प्रकाशित होते हैं। उदाहरणरूपसे समझ सकते हैं कि, जीव देश-काल-परिच्छिन्न और अहंकारी है; परन्तु ब्रह्म देश-कालसे अपरिच्छिन्न, विभु और तत्त्वातीत हैं। जब

भगवत्सान्निध्य-प्राप्तिसे भागवत कृतकृत्य होता है, उस समय वह अहङ्काररहित और उदारचरित हो जाता है। जीव स्वार्थी है और श्रीभगवान् केवल भक्तोंके कल्याणके निमित्त ही सगुणरूप धारण करते हैं जैसा कि पहले कहा गया है। इस कारण भागवतमें "वसुधैव कुटुम्बकम्" का भाव और सर्वजीवहितकारी वृत्ति प्रस्फुटित दिखाई देती है। इस प्रकारसे श्रीभगवान्‌की यावत् गुणराशिकी प्रतिकृति भागवतमें प्रकट होनेसे भागवत भी अन्य जीवोंका आश्रयस्थल बन जाता है ॥ ३२ ॥ ६ ॥

उपनिषदं भो ब्रूहीति, उक्ता त उपनिषद्,
ब्राह्मीं वाव त उपनिषदमब्रुमेति ॥ ३३ ॥ ७ ॥

[एवम् अनुशिष्टः शिष्यः आचार्य्यं उवाचः—] भो (भगवन् !) उपनिषदं (वेदरहस्यं) ब्रूहि (मह्यमिति शेषः) इति । [शिष्ये एवं उक्तवति सति आचार्यं आह—] ते (तुभ्यम्) उपनिषद् उक्ता (अभिहिता) [का पुनः सा ? इत्याह—] ब्राह्मीं (ब्रह्मविषयां) वाव (एव) उपनिषदं ते (तुभ्यम्) अब्रुम इति ॥ ३३ ॥ ७ ॥

मन्त्रार्थ ।

(इस प्रकार उपदेशप्राप्त शिष्यने आचार्य्यसे कहा—) भगवन् ! (मुझे) उपनिषद्—ब्रह्मविद्याके सम्बन्धमें उपदेश प्रदान करें। आचार्य्यने कहा—मैंने तुमसे उपनिषद् कही है। वह उपनिषद् क्या है ? ब्रह्मविषयक उपनिषद् ही मैंने तुमसे कही है ॥ ३३ ॥ ७ ॥

शाङ्कर-भाष्यम् ।

एवमनुशिष्टः शिष्य आचार्य्यमुवाच—उपनिषदं रहस्यं यच्चिन्त्यं, भो भगवन् ब्रूहीति, एवमुक्तवति शिष्ये आह आचार्य्यः,—उक्ता अभिहिता ते तव उपनिषत् । का पुनः सा ? इत्याह,—ब्राह्मीं ब्रह्मणः परमात्मन इयं ब्राह्मी, तां परमात्मविषयत्वात् अतीतविज्ञानस्य । वाव एव, ते उपनिषदं अब्रुम इति उक्तामेव परमात्म-विषयामुपनिषदमब्रुम इत्यवधारयति उत्तरार्थम् । परमात्म—विषयामुपनिषदं श्रुतवत उपनिषदं भो ब्रूहीति पृच्छतः शिष्यस्य कोऽभिप्रायः ? यदि तावत् श्रुतस्यार्थस्य प्रश्नः कृतः, ततः पिष्टपेषणवत् पुनरुक्तोऽनर्थकः प्रश्नः स्यात् । अथ सावशेषोक्तोपनिषत् स्यात्, ततस्तस्याः फलवचनेन उपसंहारो न युक्तः "प्रेत्यास्मात् लोकादमृता भवन्ति" इति । तस्मादुक्तोपनिषच्छेषविषयोऽपि प्रश्नोऽनुपपन्न एव अनवशेषितत्वात् । कस्तर्हि अभिप्रायः प्रष्टुरिति ? उच्यते, किं पूर्वोक्तोपनिषच्छेषतया तत्सहकारिसाधनान्तरापेक्षा ? अथ निरपेक्षैव ? सापेक्षा चेत्; अपेक्षित-विषयामुपनिषदं ब्रूहि । अथ निरपेक्षा चेत् अवधारय पिप्पलादवत् "नातः परमस्तीति" एवमभिप्रायः । एतदुपपन्नमाचार्यस्य अवधारण-वचनम् "उक्ता त उपनिषत्" इति ।

ननु नावधारणमिदं यतोऽन्यद्वक्तव्यमित्याह,—"तस्यै तपो दमः" इत्यादि । सत्यं वक्तव्यमुच्यत आचार्य्येण, न तु उक्तोपनिषच्छेषतया, नत् सहकारि साधनान्तराभिप्रायेण वा । किन्तु ब्रह्मविद्याप्राप्त्युपायाभिप्रायेण, वेदैस्तदङ्गैश्च सह पाठेन समीकरणात् तपःप्रभृतीनाम् । न हि वेदानां शिक्षाद्यङ्गानां च साक्षात् ब्रह्मविद्याशेषत्वं, तत्सहकारिसाधनत्वं

वा। सहपठितानामपि यथायोग विभज्य विनियोगः स्यादिति चेत्; यथा सूक्तवाकानुमन्त्रण-मन्त्राणां यथादैवतं विभागः, तथा तपोदम-कर्म-सत्यादीनामपि ब्रह्मविद्याशेषत्वं, तत्-सहकारि-साधनत्व वेति कल्प्यते। वेदानां तदङ्गानां चार्थप्रकाशकत्वेन कर्मात्मज्ञानोपायत्वं, इत्येवं ह्ययं विभागो युज्यते अर्थसम्बन्धोपपत्तिसामर्थ्यादिति चेत्? न—अयुक्तेः,—न ह्ययं विभागो घटना प्राञ्चति; न हि सर्वक्रिया-कारक-फलभेद-बुद्धितिरस्कारिण्या ब्रह्मविद्यायाः शेषापेक्षा, सहकारिसाधन-सम्बन्धो वा युज्यते; सर्वविषय-व्यावृत्त-प्रत्यगात्म-विषयनिष्ठत्वाच्च ब्रह्म-विद्यायास्तत्फलस्य च निःश्रेयसस्य; "मोक्षमिच्छन् सदा कर्म त्यजेदेव ससाधनम् त्यजतैव हि तज्ज्ञेयं त्यक्तुः प्रत्यक् परं पदम्" इति तस्मात् कर्मणा सहकारित्वं, कर्मशेषापेक्षा वा न ज्ञानस्य उपपद्यते। ततोऽसदेव सूक्तवाकानुमन्त्रणवद् यथायोग विभाग इति। तस्मात् अवधारणार्थतैव प्रश्न-प्रतिवचनस्य उपपद्यते। एतावत्येवेयम् उपनिषदुक्ता अन्यनिरपेक्षा अमृतत्वाय ॥ ३२ ॥ ७ ॥

भाष्यानुवाद।

इस प्रकार उपदेश प्राप्त करनेके अनन्तर शिष्यने आचार्य्यसे कहा कि,—भगवन्! जिस उपनिषद्की चिन्ता करनी होगी, सो मुझको कहिये। शिष्यकी यह बात सुनकर आचार्य्यने कहा कि, तुमसे तो उपनिषद् कही गयी है। वह क्या है? कहते हैं,—वह ब्राह्मी अर्थात् ब्रह्मसम्बन्धिनी है। क्योंकि पूर्वकथित विज्ञान परमात्म-विषयमें ही उपदिष्ट हुआ है; अतः निश्चय जानो कि, मैंने तुमसे ब्राह्मी अर्थात् परमात्म-विषयक

उपनिषद् कही है। पूर्वोक्त विज्ञान ब्रह्मविद्याके सिवाय और कुछ नही है, इसको दृढ़ करनेके लिये पुन "अब्रुम वाव" निश्चय ही कहा गया है कहके अवधारण किया गया। अब ये शंकाएं होती हैं कि, यदि शिष्यने परमात्म-विषयक उपनिषद् निश्चय ही श्रवण किया हो, तब "उपनिषदं ब्रूहि" करके पुनः प्रश्न करनेका क्या तात्पर्य है? और यदि सुने हुए विषयमें ही प्रश्न हो, तो पुनरुक्त यह प्रश्न पिष्ट-पेषणवत् सम्पूर्णरूपसे निरर्थक हो जाता है। और यदि कहा जाय कि पूर्वमें जो उपनिषद् कथित हुई है, वह सविशेष (असम्पूर्ण) है अर्थात् उस विषयमें और भी वक्तव्य है, तोभी परवर्ती श्रुतिमें "इह-लोकसे प्रयाण करनेके अनन्तर वे अमृत (मुक्त) होते हैं" इस प्रकारसे फलोल्लेखपूर्वक उपनिषद्का उपसंहार करना युक्तिसंगत नहीं हो सकता है, इस कारण पूर्वोक्त उपनि-षद्के अवशिष्ट विषयमें प्रश्नकी कल्पना करना भी युक्तियुक्त नहीं होता है क्योंकि पूर्वोक्त उपनिषद् सम्बन्धसे और कुछ वक्तव्य अवशिष्ट है, यह किसी प्रकार प्रमाणित नहीं होता। तब पुनः प्रश्नकर्त्ताका अभिप्राय क्या है? कहा जाता है,— शिष्यका अभिप्राय यह है कि इससे पहले जो उपनिषद् कथित हुई है, उसमें और किसी सहकारी साधनकी अपेक्षा है या नहीं?—यदि सहकारी साधनकी अपेक्षा है, तो उस अपेक्षित साधनके सहित उपनिषद् कहिये; और यदि अन्य साधनकी अपेक्षा न हो तब भी पिप्पलाद मुनिने ऐसा कहा था कि,

"नातः परमस्ति" अर्थात् "इसके अनन्तर और कुछ वक्तव्य नहीं है" वैसा ही आप भी निरपेक्षत्व निर्धारण पूर्वक कहिये। शिष्यका इसी प्रकार अभिप्राय ग्रहण करनेसे ही आचार्य्यकी "उक्ता ते उपनिषद्" अर्थात् "मैंने तो तुमसे उपनिषद् कही है" इस प्रकारकी अवधारणोक्ति भी युक्तिसंगत हो सकती है।

अब प्रश्न यही होता है कि उक्त वाक्य अवधारणार्थक नहीं है? क्योंकि "तस्मै तपो दमः" इत्यादि परवर्त्ती वाक्योंमें और बात कही? हां, सचमुच आचार्य्यके द्वारा अन्यान्य विषय ही कहा गया है, किन्तु वह उक्त विद्याके अवशिष्ट अंश अथवा साधनान्तरके निरूपणके अभिप्रायसे नहीं कहा गया है; परन्तु ब्रह्मविद्या-लाभके उपाय कहनेके अभिप्रायसे ही वह कहा गया है। इसी कारण ही ब्रह्मप्राप्तिके उपायभूत वेद और वेदाङ्गोंके पाठके साथ तप आदिका निर्देश किया गया है। वेद और शिक्षा आदि वेदाङ्ग समूह भी साक्षात् रूपसे कदापि ब्रह्मविद्याके अङ्ग अथवा सहकारी साधन नहीं हैं। यदि कहो कि, यद्यपि सूक्तवाक्य, अनुमन्त्र (एक प्रकारका वेदांश) एवं मन्त्र, इन सबोंके पाठके साथ ही साथ तपादिका निर्देश किया है, तथापि जिस प्रकार भिन्न भिन्न देवताके कार्य्यमें इनका प्रयोग हुआ करता है, उसी प्रकार तप, दम एवं सत्य आदि साधन समूहोंके वेदादिके साथ एकत्र अनुष्ठित होनेपर भी यथावश्यक उनकी ब्रह्मविद्याके अङ्ग अथवा सहकारी साधन-स्वरूपसे कल्पना की जा सकती है, एवं वेद और वेदाङ्ग

समूह तदर्थप्रकाश होनेसे उनको भी कर्मोपयोगी आत्मज्ञान साधनत्वरूपसे कल्पना हो सकती है, सुतरां इस प्रकारसे दोनोंका ही पृथक् पृथक् विभाग युक्तिसिद्ध हो सकता है? विशेषतः इस प्रकारके विभाग करनेपर विभिन्नार्थप्रदर्शक होनेसे क्या कोई बाधा नहीं होती है? नहीं, इस प्रकारकी कल्पना युक्तियुक्त नहीं हो सकती है, क्योंकि, उक्त प्रकार विभाग प्रकृतविषयका अनुगामी या अनुकूल नहीं है; क्योंकि ब्रह्मविद्या जब क्रिया, कारक और क्रियाफलविषयक सब प्रकारकी भेद बुद्धिका निवारण कर देती है तब उस ब्रह्मविद्याको अन्य किसी अङ्गकी अपेक्षा अथवा सहकारी साधनान्तरकी अपेक्षा नहीं हो सकती है। विशेषतः सर्वविषय-विमुख परमात्मबोधमें ब्रह्मविद्याकी परिसमाप्ति है; तथा ब्रह्मविद्याका फलरूप निःश्रेयस भी वैसा ही है। "मोक्षलाभेच्छु व्यक्ति कर्म एवं कर्मसाधनका अवश्य त्याग करे, त्याग करनेसे ही त्यागकर्त्ता स्वकीय परमात्मभाव जान सकता है।" यह वाक्य उक्त विषयका प्रमाण है। कर्मसमूह कदापि ब्रह्मविद्याके सहकारी साधन अथवा अङ्गरूपसे अपेक्षित नहीं हो सकते हैं। अतएव यहां सूक्तवाक्य एवं अनुमन्त्रणके समान यथावश्यक विभाग कल्पना किसी प्रकार युक्तिसंगत नहीं हो सकती है। इसी कारण प्रश्न और उसके उत्तरमें उक्त प्रकारका निश्चयार्थ ही युक्तिसंगत होता है। अब तक जो कहा गया है, वही मुक्तिलाभकी

साधनीभूत उपनिषद् है, इसमें अन्य किसी साधनकी अपेक्षा नहीं है ॥ ३३ ॥ ७ ॥

टीका ।

मन्त्रमें जो "भो" शब्द है, उससे गुरु-शिष्य-सम्वादका विज्ञान प्रकट होता है । इस संसारमें दो शक्तियां प्रकट हैं, एक गुरुशक्ति, दूसरी लघुशक्ति । यदि लघुशक्ति गुरुशक्तिके अभिमुखीन हो, तो गुरुशक्ति लघुशक्तिको अपनी ओर खींच लेती है । इसी विज्ञानके अनुसार अन्तःकरण यदि युक्त हो तो, लघुशक्ति-विशिष्ट जीव गुरुशक्ति-विशिष्ट ब्रह्ममें खींचकर ब्रह्मीभूत हो जाता है । अज्ञानी जीवको ज्ञानमय शिव नाना प्रकारसे ज्ञान प्रदान करके स्वस्वरूपकी ओर अग्रसर किया करते हैं । वस्तुतः, जगद्गुरुरूपी परमात्मा ही इसी मनुष्य-केन्द्रमें गुरुरूपसे आविर्भूत होकर शिष्यको आत्मज्ञानका पथ-रूपी योगादिसाधन बताकर मुक्तिरूपी निःश्रेयसपदकी ओर अग्रसर करते हैं और अन्तमें वे ही उपनिषद् सुनाकर शिष्यको कृतकृत्य करते हैं । इस प्रकारसे गुरुके उपदेश प्राप्त करनेमें शिष्यके अन्तःकरणमें प्रथम विश्वास तदनन्तर श्रद्धा और तदनन्तर सत्यरूपी ब्रह्मका आविर्भाव होता है । यही शिष्यके कृतकृत्य होनेका क्रम है । अपनेको लघुशक्ति-विशिष्ट शिष्य मानकर जब जिज्ञासु विचार द्वारा निश्चय कर लेता है कि, अमुक गुरुपदवाच्य है, तब वह विश्वास दृढ़मूल होकर जिज्ञासुको शिष्यत्वका अधिकारी बनाता है । तदनन्तर

श्रद्धाका अधिकार प्रारम्भ होता है। श्रद्धाके द्वारा शुद्धचि
शिष्य अनन्यभक्तिसे गुरुप्रणाम, गुरुसेवा, और जिज्ञास
बुद्धिसे युक्त होकर गुरुके उपदेशको प्राप्त करता रहता है। इ
प्रकारसे शिष्य अधिदैव और अध्यात्मराज्यमें अग्रसर हो
रहता है, जिन दोनोंका इङ्गित पूर्व मन्त्रोंमें आया है
अन्तमें सत्यकी प्राप्तिके पूर्व शिष्यको आत्मबल प्रदानके लि
"इदमित्थम्" रूपसे लक्ष्य स्थिर करानेकी आवश्यकता श्रीगु
देवको होती है। उसी अन्तिम अवस्थाका इङ्गित इ
मन्त्रमें है ॥ ३३ ॥ ७ ॥

तस्यै तपो दमः कर्मेति प्रतिष्ठा वेदाः सर्वाङ्गानि सत्य
मायतनम् ॥ ३४ ॥ ८ ॥

तपः (कायेन्द्रियमनसा निग्रहः), दमः (इन्द्रियसंयमः) क
(विहितं कर्म च) वेदाः (ऋग्वेदादयः) सर्वाङ्गानि (शिक्षादीनि
इति (अन्यदपि) तस्यै (तस्याः उपनिषदः) प्रतिष्ठा (प्राप्तिसाधन
सत्यमायतनम् (तस्याः आश्रयभूतम्) ॥ ३४ ॥ ८ ॥

मन्त्रार्थ ।

तप, दम, कर्म, वेद, और वेदाङ्ग उसके प्रतिष्ठारूप हैं। अर्थ
प्राप्तिके उपायभूत हैं और सत्य उसका आयतन—आश्र
स्थान है ॥ ३४ ॥ ८ ॥

शाङ्कर-भाष्यम् ।

यामिमां ब्राह्मीमुपनिषदं तवाग्रेऽब्रूमेति, तस्यै तस्या उक्ताया उप
षदः प्राप्त्युपायभूतानि तप-आदीनि। तपः कायेन्द्रिय-मनसां समा

नम् । दम उपशमः । कर्म अग्निहोत्रादि । एतैर्हि संस्कृतस्य सत्त्वशुद्धिद्वारा तत्त्वज्ञानोत्पत्तिः । दृष्टा ह्यमृदितकल्मषस्योक्तेऽपि ब्रह्मणि अप्रतिपत्ति· विपरीतप्रतिपत्तिश्च, यथेन्द्र·विरोचनप्रभृतीनाम् । तस्मादिह वा अतीतेषु वा बहुषु जन्मान्तरेषु तपआदिभिः कृतसत्त्वशुद्धेः ज्ञानं समुत्पद्यते यथा-श्रुतम्—"यस्य देवे पराभक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ, तस्यैते कथिता ह्यर्थाः प्रकाशन्ते महात्मनः" इति मन्त्रवर्णात् । "ज्ञानमुत्पद्यते पुंसां क्षयात् पापस्य कर्मणः" इति च स्मृतेः । इति शब्द उपलक्षणत्व-प्रदर्शनार्थः । इति एवमाद्यन्यदपि ज्ञानोत्पत्तेरूपकारकम्—"अमानित्व-मदाम्भित्वम्" इत्याद्युपदर्शित भवति । प्रतिष्ठा पादौ—पादाविवास्याः, तेषु हि सत्सु प्रतितिष्ठति ब्रह्मविद्या—प्रवर्त्तते पद्भ्यामिव पुरुषः । वेदा-श्चत्वारः, सर्वाणि चाङ्गानि शिक्षादीनि षट्, कर्मज्ञानप्रकाशकत्वात् वेदानां, तद्रक्षणार्थत्वादङ्गानां प्रतिष्ठात्वम् । अथवा, प्रतिष्ठाशब्दस्य पादरूपकल्प-नार्थत्वात् वेदास्तु इतराणि सर्वाङ्गाणि शिर·आदीनि । अस्मिन् पक्षे शिक्षादीनां वेदग्रहणेनैव ग्रहणं कृतम् प्रत्येतव्यम् । अङ्गिनि हि गृहीते अङ्गानि गृहीतान्येव भवन्ति, तदायत्तत्वादङ्गानाम् । सत्यं आयतनं यत्र तिष्ठत्युपनिषत् तदायतनम् । सत्यमिति अमायिताऽकौटिल्य वाङ्मनः-कायानाम् । तेषु ह्याश्रयति विद्या, येऽमायाविनः साधवः, नासुरप्रकृतिषु मायाविषु, "न येषु जिह्ममनृतं न माया च" इति श्रुतेः । तस्मात् सत्यमायतनमिति कल्प्यते । तप-आदिष्वेव प्रतिष्ठात्वेन प्राप्तस्य सत्यस्य पुनरायतनत्वेन ग्रहणं साधनातिशयत्वज्ञापनार्थम् । "अश्वमेधसहस्रञ्च सत्यं च तुलया धृतम् । अश्वमेधसहस्राच्च सत्यमेकं विशिष्यते ॥" इति स्मृतेः ॥ ३४ ॥ ८ ॥

भाष्यानुवाद ।

[आचार्यने कहा] तुमसे जो यह ब्रह्मविद्या कही गई, निम्नलिखित तप आदि धर्म ही उसकी प्राप्तिके उपाय हैं । देह, इन्द्रिय एवं मनकी स्थिरतासम्पादनको तप कहते हैं । उपशम अर्थात् विषयपराङ्मुख होनेको दम कहते हैं, एवं कर्मसे तात्पर्य्य अग्निहोत्रादि कर्म है। इन्हीं सबोंके द्वारा परिमार्जित होनेपर मनकी सत्त्वशुद्धि सम्पादित होती है और उसके फलसे तत्त्वज्ञान उत्पन्न होते देखा गया है। दूसरी ओर बुद्धिगत कल्मष (पाप) विदूरित न होनेसे उपदेश पाने-पर भी ब्रह्मके विषयमें अज्ञान या विपरीतज्ञान उत्पन्न होते देखा गया है। इन्द्र और विरोचन ही इस विषयके उत्तम दृष्टान्त हैं। अतएव इसी जन्ममें हो अथवा बहु जन्मके बाद ही हो, तपस्या आदिके द्वारा चित्त शुद्ध होनेपर ही यथाश्रुत ज्ञान उत्पन्न हुआ करता है। "देवता (इष्ट) के प्रति जिसकी पराभक्ति है एवं वैसे ही भक्ति गुरुमें भी है, ये मन्त्र कथित विषय उसी महात्माके निकट प्रकाशित होते हैं या प्रतिभासित होते हैं" यह मन्त्र एवं "कर्मानुष्ठानसे पापक्षय होनेपर पुरुषको तत्त्वज्ञान उत्पन्न होता है" यह स्मृतिवाक्य भी उक्त विषयका प्रमाण है। मूलमें जो 'इति' शब्द है, वह उपलक्षणार्थ है: उसके द्वारा इस प्रकार अमानित्व, अदम्भित्व आदि अन्यान्य धर्म भी ब्रह्मविद्या उत्पादनमें सहायक हैं, सो भी प्रदर्शित हुआ। प्रतिष्ठाका अर्थ पाद है। मनुष्य जिस

प्रकार पैरके ऊपर भार रखकर कार्य्य करता है; उसी प्रकार तपस्यादि साधनके रहनेसे ही ब्रह्मविद्या प्रतिष्ठित होती है, इस कारण पूर्वोक्त तपस्या आदि धर्म ब्रह्मविद्याके पादस्वरूप हैं। ऋक् आदि चारो वेद और शिक्षा आदि छः अङ्ग ही कर्म एवं ज्ञानके प्रतिपादक हैं; इसी कारण वेद और उसके सब अङ्ग ब्रह्मविद्याकी प्रतिष्ठाके कारण होते हैं। अथवा प्रतिष्ठा शब्दसे जब पाद अर्थ प्रतिपन्न हुआ है, तब वेदोंको मस्तकादि अन्यान्य अङ्गस्थानीय कहा जा सकता है। इस पक्षमें 'वेद' शब्दसे शिक्षादि षड़ङ्ग भी समझना होगा। क्योंकि अङ्ग-समूह जब प्रधानके ही अन्तर्गत हैं, तब प्रधानके ग्रहणसे अङ्गोंका ग्रहण स्वतः हो जाता है। सत्य ही ब्रह्मविद्याका आयतन (आश्रयस्थान) है; क्योंकि यह उपनिषद् (ब्रह्म-विद्या) प्रधानतः सत्यके आश्रयसे ही अवस्थित रहती है। 'सत्य' का अर्थ अमायिता, वाक्य, मन, एवं शरीरकी कुटि-लताका अभाव है। जो मायावी नहीं हैं, साधु हैं, ब्रह्मविद्या उन्हींको आश्रय करके रहती है, किन्तु असुरस्वभाव माया-वीको आश्रय करके नहीं रहती। श्रुति कहती है—"जिनमें कुटिलता, मिथ्याचरण, या माया नहीं है [विद्या उन्हींको आश्रय करती है।]" इसी कारण सत्यकी ब्रह्मविद्याको आश्रयरूपसे कल्पना की जाती है। तपस्या आदिको प्रतिष्ठा कहनेसे सत्यका आयतन होना भी अवश्य प्रतिपादित हुआ था, तथापि उसके पृथक् आयतनत्व उल्लेखका तात्पर्य्य यह

है कि, ब्रह्मविद्या प्राप्तिके लिये जितने प्रकारके साधन हैं, उनमें सत्य ही प्रधानतम साधन है। स्मृति यथा—सहस्र अश्वमेध यज्ञ एवं सत्य एक तुलादण्डपर रक्खा गया था, किन्तु एक सत्य ही सहस्र अश्वमेधकी अपेक्षा विशिष्ट(अधिक)हुआ था ॥३४॥८॥

टीका।

धर्मके तीन प्रधान अङ्ग हैं—यज्ञ, तप, और दान। यज्ञके तीन भेद हैं यथा कर्मयज्ञ, उपासनायज्ञ और ज्ञानयज्ञ। इन पाचोंके बहुभेद हैं जो वेद और शास्त्र द्वारा प्रकाशित हैं। प्रकारान्तरसे इन सबोंको ही इस मन्त्रने प्रतिष्ठारूपसे वर्णन किया है। "दम" शब्दका स्वतन्त्ररूपसे प्रयोग होनेसे इस मन्त्रमें तप शब्दसे केवल शारीरिक तपका ही सम्बन्ध समझना उचित है। वाचनिक और मानसिक तप दमके अन्तर्गत ही माने जायंगे, क्योंकि यावत् इन्द्रियोंके निग्रहको दम कहते हैं। मन भी एकादश इन्द्रियरूपसे माना गया है। दमके विशेषरूपसे इस मन्त्रमें प्रयुक्त होनेका कारण यह है कि अन्तःकरणको ब्रह्मभावमें युक्त करनेमें दमकी सर्वोपरि आवश्यकता है। "कर्म" शब्दसे दान धर्मसे लेकर कर्मयज्ञ और उपासना यज्ञ तक सबके विषयमें इङ्गित किया गया है। वेद और अङ्गसे ज्ञानयज्ञसम्बन्धी साधनोंको लक्षित किया है। ये सब ही स्वरूपज्ञान प्रकाशिका उपनिषत्के प्रतिष्ठास्थान हैं। जिस प्रकार भित्तिपर अट्टालिका प्रतिष्ठित होती है, उसी प्रकार इन सबोंपर उपनिषत् प्रतिष्ठित है। वेदोंमें प्रायः "सत्य" शब्दसे

ब्रह्मपदका ही निर्देश किया गया है; उस पदका रहस्य विशेष-रूपसे विवृत करनेके अर्थ इस मन्त्रमें कहा गया है कि, सत्य उस उपनिषत्का आयतन है। जैसे स्थूल शरीर जीवका भोगायतन समझा जाता है, क्योंकि चाहे मृत्युलोकका भोग हो, चाहे सूक्ष्मदैवलोकोका भोग हो, सब स्थानोमें ही एक न एक प्रकारका स्थूल शरीर जीवको मिलता है तभी भोगकी समाप्ति होती है; उसी प्रकार स्वस्वरूप उपलब्धिरूपी सत्यको प्राप्ति उपनिषत्के द्वारा होती है। वस्तुतः पराविद्यारूपी ब्रह्मविद्याको ही उपनिषत् कहते हैं। उपनिषत् वेदान्तका सिद्धान्त है, उपनिषत् ज्ञानकी चरम सीमा है, और उपनिषत् स्वरूप प्रकाशिका है। ऐसी उपनिषत्की भित्ति धर्मके अङ्ग-समूह हैं, क्योंकि जिस प्रकार भित्तिपर ही भवन निर्मित होता है, उसी प्रकार परमधार्मिक व्यक्तिमें अध्यात्मशुद्धि, अधिदैवशुद्धि और अधिभूतशुद्धि हो जानेसे मल, विक्षेप और आवरण दूर होकर उपनिषत्की प्राप्ति होती है और उसका आयतन ब्रह्म है॥ ३४ ॥ ८॥

यो वा एतामेवं वेदापहत्य पाप्मानमनन्ते स्वर्गे लोके ज्येये प्रतितिष्ठति प्रतितिष्ठति ॥ ३५ ॥ ९ ॥

ओ शान्तिः शान्तिः शान्तिः

केनोपनिषत् समाप्ता।

यः वै एतां (ब्रह्मविद्यां) एवं वेद सः पाप्मानं अपहत्य (विधूय) अनन्ते (अपर्य्यन्ते) ज्येये (ज्यायसि सर्वं महत्तरे) स्वर्गे लोके (परम-सुखात्मके ब्रह्मणि) प्रतितिष्ठति (प्रतिवसति) ॥ ३५ ॥ ९ ॥

मन्त्रार्थ।

जो लोग यथोक्त प्रकारसे इस ब्रह्मविद्याको जानते हैं, वे अपने पापको विदूरित करके सर्व्वश्रेष्ठ एवं सुखात्मक ब्रह्ममें अवस्थान करते हैं ॥ ३५ ॥ ९ ॥

शाङ्कर-भाष्यम्।

यो वै एतां ब्रह्मविद्यां "केनेषितम्" इत्यादिना यथोक्तां एवं महा-भागां "ब्रह्म ह देवेभ्यः" इत्यादिना स्तुतां सर्वविद्याप्रतिष्ठां वेद "अमृतत्वं हि विन्दते" इत्युक्तमपि ब्रह्मविद्याफलं अन्ते निगमयति—अपहत्य पाप्मानं अविद्या-काम-कर्मलक्षणं संसारबीजं विधूय अनन्ते अपर्य्यन्ते स्वर्गे लोके सुखा-त्मके ब्रह्मणीत्येतत्। अनन्ते इति विशेषणात् न त्रिविष्टपे। अनन्तशब्द औप-चारिकोऽपि स्यात् इत्यत आह,—ज्येय इति। ज्येये ज्यायसि सर्वमहत्तरे स्वात्मनि मुख्ये एव प्रतितिष्ठति; न पुनः संसारमापद्यते इत्यभिप्राय.॥३५॥९॥

भाष्यानुवाद।

"केनेषितं" इत्यादि वाक्योंमें कथित एवं "ब्रह्म ह देवेभ्यः" इत्यादि वाक्यों द्वारा प्रशंसित, सब विद्याओंको आश्रयस्वरूप इस अत्युत्तम ब्रह्मविद्याको जो जानते हैं, वे संसारकी बीज-भूता अविद्या, और काम-कर्मात्मक पापको विधूत अर्थात् अपनयन करके अनन्त असीम सर्वोत्तम स्वर्गलोक अर्थात् सुखात्मक आत्मस्वरूप ब्रह्ममें अवस्थान करते हैं, पुनः लौटकर

संसारमें नहीं आते हैं। पहले "अमृतत्वं हि विन्दते" श्रुतिमें जिस मुक्तिफलका उल्लेख किया गया है, यहां "स्वर्गे लोके प्रतितिष्ठति" वाक्यमें उसीका निगमन किया गया है। (कथित विषयको प्रकारान्तरसे पुनः कथनको निगमन कहते हैं।) यद्यपि 'स्वर्ग' शब्द सुरलोक वाचक है, तथापि "अनन्त" विशेषण दिये जानेसे यहां उसका अर्थ 'ब्रह्म' ही ग्रहण करना होगा। क्योंकि सुरलोक वाचक स्वर्ग अनन्त नहीं है, ससीम है। कोई "अनन्त" शब्दसे आपेक्षिक अनन्तत्व ही न ग्रहण करले, इसी आशंकासे "ज्येये" (सर्वापेक्षा महत्) विशेषण दिया गया है॥ ३५॥ ६॥

इति केनोपनिषद्का चतुर्थ खण्ड शांकरभाष्य
और भाष्यानुवाद सहित समाप्त।

टीका।

पाप प्रकृतिराज्यका विषय है। प्राकृतिक नियमके अनुकूल चलनेसे पुण्य और उसके विरुद्ध चलनेसे पाप होता है। पापका फल दुःख है। नरक प्रेतादि लोकोंकी प्राप्ति पापके फलसे होती है। इस कारण पाप शब्दका प्रयोग इस मन्त्रमें हुआ है। सुखमय स्वर्गलोककी प्राप्ति पुण्यके फलसे होती है, इस कारण सुखस्वरूप "स्वर्ग" शब्दका प्रयोग इस मन्त्रमें किया गया है। उपनिषत्के द्वारा जब आवरण दूर होकर आत्मज्ञानकी उत्पत्तिद्वारा स्वस्वरूपकी उपलब्धि होती है और विद्याकी कृपासे अविद्याका विलय होकर अद्वैत ब्रह्मभावकी

प्रतिष्ठा होती है, उस समय प्रकृतिके लयके साथ ही साथ प्रकृतिसम्भूत पापका नाश हो जाना भी स्वतः सिद्ध है। जबतक द्रष्टारूपी आत्मा और दृश्यरूपी प्रकृतिकी ग्रन्थि थी, तबतक दृश्य-सम्बन्धीय पाप भी था; जब द्रष्टा-दृश्यका सम्बन्ध विदूरित हुआ और ब्रह्मविद्यारूपिणी उपनिषत्की कृपासे स्वस्वरूपका उदय हुआ तो, उस समय पापका सम्बन्ध रह ही नहीं सकता है। इस मन्त्रमें अनन्त स्वर्गसे अनन्त सुखका तात्पर्य है। जबतक सुख अनन्त नहीं है, तबतक वह सुख प्राकृतिक और वैषयिक है; परन्तु अनन्त सुख ही ब्रह्मानन्द है। अतः उपनिषत्की प्राप्तिसे अनादि अनन्त ब्रह्मानन्दका उदय होता है। अर्थात् उपनिषत्का अधिकारी महापुरुष ब्रह्मरूप ही हो जाता है। जबतक उसका शरीर रहता है, तबतक वह महात्मा जीवन्मुक्त कहाता है। उस समय कुलाल-चक्रवत् उसका स्थूल शरीर क्रियाशील और भोगशील प्रतीत होनेपर भी वह शिवरूप ही समझने योग्य है। और प्रारब्ध कर्मके भोगके अन्तके साथ ही साथ जब उसके शरीरका कुलालचक्रवत् पतन होता है, उस समय वह ब्रह्मीभूत हो जाता है। इन दोनों अवस्थाओंके निर्देशके लिये "प्रतितिष्ठति" शब्दकी उक्ति हुई है ॥ ३५ ॥

इति केनोपनिषत्की उपनिषत्सुबोधिनी टीका समाप्त ।

ओं तत् सत् ।

सनातनधर्मकी पुस्तकें ।

धर्मकल्पद्रुम ।

यह हिन्दूधर्मका अद्वितीय और परमावश्यक ग्रन्थ है। हिन्दुजातिकी पुनरुन्नतिके लिये जिन जिन आवश्यकीय विषयोंकी जरूरत है, उनमेंसे सबसे बड़ी भारी जरूरत एक ऐसे धर्मग्रन्थकी थी कि, जिसके अध्ययन अध्यापनके द्वारा सनातनधर्मका रहस्य और उसका विस्तृत स्वरूप तथा उसके अङ्ग उपाङ्गोंका यथार्थ ज्ञान प्राप्त हो सके और साथही साथ वेद और सब शास्त्रोंका आशय तथा वेदों और सब शास्त्रोंमें कहे हुए विज्ञानोंका यथाक्रम स्वरूप जिज्ञासुको भलीभांति विदित हो सके। इसी गुरुतर अभावको दूर करनेके लिये भारतके प्रसिद्ध धर्मवक्ता और श्रीभारतधर्ममहामण्डलस्थ उपदेशक महाविद्यालयके दर्शनशास्त्रके अध्यापक श्रीमान् स्वामी दयानन्दजी महाराजने इस ग्रंथका प्रणयन किया है। इसके सात खण्ड प्रकाशित हो चुके हैं। प्रथम खण्डका मूल्य २), द्वितीयका १॥) तृतीयका २), चतुर्थका २), पंचमका २), षष्ठका १॥) और सप्तमका २) है।

प्रवीण दृष्टिमें नवीन भारत ।

इस ग्रंथमें आर्यजातिका आदिका वासस्थान, उन्नतिका आदर्श निरूपण, शिक्षादर्श, आर्यजीवन, वर्णधर्म आदि विषय वैज्ञानिक युक्ति तथा शास्त्रीय प्रमाणोंके साथ वर्णित है। इसके दो खण्ड हैं प्रत्येकका मूल्य २)

नवीन दृष्टिमें प्रवीण भारत ।

भारतका प्राचीन गौरव और आर्यजातिका महत्त्व जानने के लिये यह एक ही पुस्तक है । मूल्य १)

साधनचन्द्रिका ।

इसमें मंत्रयोग, हठयोग, लययोग और राजयोग इन चारों योगोंका संक्षेपमें अति सुन्दर वर्णन किया गया है। मूल्य १॥)

शास्त्रचन्द्रिका ।

वेद, दर्शन, पुराण, धर्मशास्त्र आदि सभी शास्त्रोंका सारांश इस ग्रन्थमें वर्णित है । मूल्य १॥)

धर्मचन्द्रिका ।

इसमें सनातनधर्मका उदार सार्वभौम स्वरूपवर्णन, यज्ञ, दान, तप आदि धर्माङ्गोंका विस्तृत वर्णन, वर्णधर्म, आश्रमधर्म, नारीधर्म, आर्यधर्म, राजधर्म, तथा प्रजाधर्मके विषयमें बहुत कुछ लिखा गया है । मूल्य १)

आर्य्यगौरव ।

आर्य्यजातिका महत्त्व जाननेके लिये एक ही पुस्तक है । मूल्य ॥)

आचारचन्द्रिका ।

इसमें प्रातःकालसे लेकर रात्रिमें निद्राके पहले तक क्या क्या सदाचार किस लिये प्रत्येक हिंदु संतानको अवश्य ही पालने चाहिये, इसका रहस्य बताया गया है मूल्य ॥)

नीतिचन्द्रिका ।

इसमें नीतिकी सब बातें ऐसी सरलतासे समझाई गई

हैं कि, इस एकके ही पाठसे नीतिशास्त्रका ज्ञान हो सकता है। मूल्य ॥)

चरित्रचन्द्रिका।

इस ग्रन्थमें पौराणिक ऐतिहासिक और आधुनिक महापुरुषोंके सुन्दर मनोहर विचित्र चरित्र वर्णित हैं। प्रथम भागका मूल्य १) और दूसरे भागका १।)

धर्मप्रश्नोत्तरी।

सनातनधर्मके प्रायः सब सिद्धान्त अति संक्षिप्तरूपसे इस पुस्तिकामें लिखे गये हैं। प्रश्नोत्तरीकी प्रणाली ऐसी सुन्दर रक्खी गई है कि, छोटे बच्चे भी धर्मतत्त्वोंको भली भांति हृदयङ्गम कर सकेंगे। मूल्य ।)

परलोक–रहस्य।

मनुष्य मर कर कहां जाता है, उसकी क्या गति होती है, इस विषयपर वैज्ञानिक युक्ति तथा शास्त्रीय प्रमाणोंके साथ विस्तृतरूपसे वर्णन है। मूल्य ।)

चतुर्दशलोक रहस्य।

स्वर्ग और नरक कहां और क्या वस्तु है, उनके साथ हमारे इस मृत्युलोकका क्या सम्बन्ध है इत्यादि विषय शास्त्र और युक्तिके साथ वर्णित किये गये हैं। मूल्य ।)

सती-चरित्र-चन्द्रिका।

इस पुस्तकमें सीता, सावित्री, गार्गी, मैत्रेयी आदि ४४ सती स्त्रियोंके जीवन चरित्र लिखे गये हैं। मूल्य २)

नित्य-कर्म-चन्द्रिका।

इस ग्रंथमें प्रातःकालसे लेकर रात्रिपर्यन्त हिंदुमात्रके

अनुष्ठान करने योग्य नित्य कर्म्म वैदिक तांत्रिक मन्त्रोंके साथ भलि भांति वर्णित किये गये हैं। मूल्य ।)

धर्मसोपान।

यह धर्मशिक्षा विषयक बड़ी उत्तम पुस्तक है। मू० ।)

धर्म-कर्म-दीपिका।

इस पुस्तकमें कर्मका स्वरूप, कर्मके भेद, संस्कारके लक्षण और भेद, धर्मरूप कल्पद्रुमका विस्तृत वर्णण, वर्णाश्रमधर्मकी महिमा और विज्ञान, सदाचार विज्ञान और महत्व प्रतिपादन किया गया है। मूल्य ॥)

सदाचारसोपान।

यह पुस्तक कोमलमति बालक बालिकाओंको धर्मशिक्षाके लिये प्रथम पुस्तक है। मूल्य ~) एक आना।

कन्याशिक्षासोपान।

कोमलमति कन्याओंको धर्मशिक्षा देनेके लिये यह पुस्तक बहुत ही उपयोगी है। मूल्य ~)

ब्रह्मचर्यसोपान।

ब्रह्मचर्यव्रतकी शिक्षाके लिये यह ग्रंथ बहुत उपयोगी है। सब ब्रह्मचारी आश्रम, पाठशाला और स्कूलोंमें इस ग्रंथको पढ़ाई होनी चाहिये। मूल्य ।) आना।

राजशिक्षासोपान।

इसमें सनातनधर्मके अङ्ग और उसके तत्व अच्छी तरह बताये गये हैं। मूल्य ≡) तीन आना।

साधनसोपान।

यह पुस्तक उपासना और साधनशैलीकी शिक्षा प्राप्त

करनेमें बहुत ही उपयोगी है। मूल्य ।) चार आना।

शास्त्रसोपान।

सनातनधर्मके सब शास्त्रोंका संक्षेप सारांश इस ग्रन्थमें वर्णित है। पुस्तक बहुत ही उपयोगी है। मूल्य ।)

योगदर्शन।

हिन्दी भाष्यसहित। प्रत्येक सूत्रका भाष्य प्रत्येक सूत्रके आदिमें भूमिका देकर ऐसा क्रमबद्ध बना दिया गया है कि, जिससे पाठकोंको मनोनिवेश पूर्वक पढ़नेपर असम्बद्ध नहीं मालूम होगा और ऐसा प्रतीत होगा कि, महर्षि सूत्रकारने जीवोंके क्रमाभ्युदय और निःश्रेयसके लिये मानों एक महान् राजपथ निर्माण कर दिया है। मूल्य २)

स्तोत्र कुसुमाञ्जलि।

इसमें पंचदेवता, अवतार और ब्रह्माकी स्तुतियोंके साथ साथ आजकलकी आवश्यकतानुसार धर्मस्तुति, गंगादि पवित्र तीर्थोंकी स्तुति, वेदान्त प्रतिपादक स्तुतियां और काशीके प्रधान देवता श्रीविश्वनाथादिकी स्तुतियां हैं। मूल्य ।) आना।

सप्त गीताएं।

विष्णुगीताका मूल्य १), सूर्य्यगीताका मूल्य ॥), शक्तिगीताका मूल्य १), धीशगीताका मूल्य ॥।) शम्भुगीताका मूल्य १) संन्यासगीताका मूल्य १) और गुरुगीताका मूल्य ।) है। इनमेंसे पञ्चोपासनाकी पांच गीताओंमें एक एक तीनरंगा विष्णुदेव, सूर्य्यदेव, भगवती और गणपति देव तथा शिवका चित्र भी दिया गया है। शम्भुगीतामें, वर्णाश्रमबन्ध नामक

चित्र भी देखने योग्य है। मूल्य संस्कृत तथा हिन्दी अनुवाद सहित है।

कर्म्ममीमांसा दर्शन।

महर्षि भरद्वाजकृत यह दर्शनशास्त्र अनुसन्धान द्वारा प्राप्त हुआ है. सूत्र, सूत्रका हिन्दीमें अर्थ और संस्कृत भाष्यका हिन्दी अनुवाद इस प्रकार इसको छापा गया है। इसका प्रथम और द्वितीय पाद प्रकाशित हो गया है। क्रमशः मूल्य १॥) २)

गोस्वामी तुलसीदासजीकी रामायण।

श्रीगोस्वामीजीके हस्तलिखित पुस्तकके साथ मिलाकर सम्पूर्ण विशुद्धरूपसे छापा गया है। इसमें कठिन कठिन शब्दोंका अर्थ इस तरहसे दिया गया है कि विना किसीके सहारासे औरत, बालक, बुड्ढे आदि सभी कोई अच्छी तरह कठिन कठिन भावोंको समझ ले सकते हैं। मूल्य १॥) है।

गीतार्थचन्द्रिका।

इसमें श्लोकके प्रत्येक शब्दका हिन्दी अनुवाद, समस्त श्लोकका सरल अर्थ और अन्तमें एक अति मधुर चन्द्रिका द्वारा श्लोकका गूढ़ तात्पर्य्य बतलाया गया है। इसमें किसीका आश्रय न लेकर ज्ञान, कर्म और उपासना तीनोंका सामञ्जस्य किया गया है। मूल्य २॥)

मिलनेका पताः—

निगमागम बुकडिपो,
स्टेशन रोड् बनारस सिटी।